वादिवागीश्वराचार्यविरचित

मानमनोहरः

स्वामी योगीन्द्रानन्दः

मानमनोहरः

षड्दर्शनप्रकाशनग्रन्थमालायाः द्वितीयं पुष्पम्

श्रीमदाचार्यवादिवागीश्वरप्रणीतः

मानमनोहरः

★

तमेतम्
उदासीनसंस्कृतमहाविद्यालयस्य भूतपूर्वप्रधानाचार्य-
न्यायाचार्यमीमांसातीर्थाद्युपाधिभृत्

स्वामी योगीन्द्रानन्दः

भुवनेश्वरीहिन्दीव्याख्यया सनाथीकृत्य
सम्पादितवान्

षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठानम्
वाराणसी

प्रकाशक :
मंत्री, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान
उदासीन संस्कृत विद्यालय
ढुण्ढिराज, वा रा ण सी

*

*

मूल्य १२.००

*

प्रथम संस्करण : १०००

*

बुद्ध-पूर्णिमा २५१७
मई १९७३

*

मुद्रक :
शरदकुमार 'साधक'
मानव मन्दिर मुद्रणालय,
के. ६६/४० नरहरपुरा,
वा रा ण सी

शालीनमान्यभुवनेश्वरनामधन्यः,
छात्रोऽपमृत्युमगमत्तरुणस्तपस्वी ।
तस्मै सुवत्सतुलिताय समर्पितेयम्,
तन्नामनामविहिता भुवनेश्वरीति ॥

प्रकाशकीय

किसी अप्रकाशित ग्रन्थ की गौरव-गाथा जिज्ञासुजनों के मानस पटल पर एक व्यग्रता व्याप्त कर दिया करती है कि कैसा होगा वह ग्रन्थरत्न और उसमें क्या-क्या होगा ? अतः किसी अप्रकाशित पुस्तक के प्रकाशन से उतनी ही प्रसन्नता होती है, जितनी किसी परिवार के चिर बिछुड़े व्यक्ति के सहसा मिलन पर। सन् १९६९ ई० में न्याय-परिवार का अप्रकाशित एवं बहुचर्चित ग्रन्थ 'न्यायभूषण' हमारे इस प्रतिष्ठान से प्रकाशित किया गया था। अब वैशेषिक दर्शन के महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित ग्रन्थ 'मानमनोहर का प्रकाशन किया जा रहा है। यह एक स्वल्पकाय किन्तु अत्यन्त दुर्बोध एवं क्लिष्ट पुरातन शैली का ग्रन्थ है, अतः इसे एक विशद हिन्दी व्याख्या के द्वारा सुबोध एवं सरल बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया है। दार्शनिक ग्रन्थों की हिन्दी व्याख्याओं में भी पारिभाषिक शब्दावलि का परिवर्तन सम्भव नहीं होता, हाँ, मूल के गंभीर भावों को मृदुल बना कर सरलता के धरातल पर अवश्य लाया जाता है। आशा है कि वैशेषिक दर्शन के विशेषज्ञ विद्वानों-द्वारा इसका सम्मान होगा ही, शाङ्कर वेदान्त के पारखी मनीषिगण भी इसे अवश्य अपनायेंगे, क्योंकि आचार्य आनन्दानुभव की न्यायरत्नदीपावलि, चित्सुखाचार्य की तत्त्वप्रदीपिका, आनन्दपूर्ण विद्यासागर की न्यायचन्द्रिका तथा आनन्दज्ञान के तर्क-संग्रह--जैसे गहन वेदान्त-ग्रन्थों में इस ग्रन्थ की पुष्कल समालोचना की गई है।

मंत्री

षड्दर्शन-प्रकाशन प्रतिष्ठान,

उदासीन संस्कृत विद्यालय,

दुण्ढिराज, वा रा ण सी

परिचय

'मानमनोहर' वैशेषिक दर्शन का महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है। बारहवीं शताब्दी में इस की रचना हुई थी। अभी तक अप्रकाशित एवं अनुपलब्ध होने के कारण द्वैताद्वैत सम्प्रदायों की जो खण्डन-मण्डन धारा आंशिक रूप में कुछ क्षीण एवं परोक्ष-सी होती जाती थी, उसका अब प्रत्यक्ष गति तथा अभिनव स्फूर्ति में आ जाना स्वाभाविक है। चिर-विस्मृत कृति का परिचय भी उतना ही आवश्यक हो जाता है, जितना कि नवीन रचना का, अतः इसके बाह्य तथा आन्तरिक अञ्चल पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है—

१—नामकरण

प्रतिपक्षी तैर्थिक वैशेषिक दर्शन की अवहेलना यह कह कर किया करते थे कि इस में न तो परिष्कृत प्रमाणों का वर्णन है और न मोक्षोपयोगी प्रमेयों का, केवल उत्पत्ति-विनाश की नितान्त नीरस क्षण-प्रक्रिया का जाल-सा बिछा प्रतीत होता है। प्रतिपक्षीय भावनाओं का चित्रण आचार्य उदयन ने किया है—

अतिविरसमसारं[१] मानवार्ताविहीनम्,
प्रविततबहुवेलप्रक्रियाजालदुःस्थम्।
उदधिसममतन्त्रं तन्त्रमेतद् वदन्ति,
प्रखलजडधियो ये तेऽनुकम्प्यन्त एते॥ (किर. पृ. ७)

---

१. आचार्य शंकर की कटाक्ष-पूर्ण उक्ति है—"तदेवमसारतरतर्कसन्दृब्धत्वादीश्वरकारणश्रुतिविरुद्धत्वाच्छ्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वादत्यन्तमेवानपेक्षाऽस्मिन् परमाणुकारणवादे कार्या" (शां० भा० २।१।१७)। वस्तु-स्थिति यह है कि प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार एवं उसका अभिसूत्रण अपने में नितान्त दुर्बोध तथा नीरस हुआ करता है। जब कुशल प्रयोक्ता उसे कार्यरूप में परिणत कर आणविक विस्फोट उत्पन्न कर दिया करता है, तब उन सिद्धान्तों से सरसता बरसती है। वैशेषिक-सूत्रों का वर्ण्य विषय एक महान् वैज्ञानिक आविष्कार है। इसकी सरसता आयुर्वेद के शाद्वल धरातल पर तब प्रस्फुटित हुई, जब वानस्पतिक

प्रायः सभी दर्शनों की परिभाषाएँ, प्रमाण वीथियां एवं प्रमेय चक्रिकाएँ अजिज्ञासु के लिए नीरस ही होती हैं। किसी रससिद्ध आचार्य की सरस्वती अपने थिरकते पद-विन्यासों के द्वारा उन्हें रसाप्लावित कर दिया करती है। द्वित्व संख्या के प्रत्यक्ष की मूक प्रक्रिया आचार्य उदयन के शब्दों में मुखरित हो उठती है—

आदाविन्द्रियसन्निकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी—
रेकत्वद्वयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते।
द्वित्वत्वप्रमितिस्ततोऽपि परतो द्वित्वप्रमानन्तरं,
द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया॥

(लक्षणावली पृ. १९)

वैशेषिक दर्शन पर दूसरा आक्षेप 'मानवार्ताविहीनम्' का देख कर आचार्य वादिवागीश्वर का गम्भीर वैदुष्य उद्वेलित हो उठा। 'मानमनोहर' ग्रन्थ की रचना हुई, जिसमें मानों (अनुमानों) की भरमार है। इन्हीं अकाट्य अनुमानों के द्वारा वैशेषिक दर्शन की प्रत्येक इकाई को मनोहर ढंग से सिद्ध किया गया है। 'मानमनोहर' शब्द ही कह रहा है—'मानैर्मनोहरः 'अथवा' 'मानानि मनोहराणि यत्र अथवा 'मानेन' (अभिमानेन गर्वेण वा) पूर्णं मनो मानमनः. तस्य हरो हर्त्ता दमयिता।' इस भाव को स्वयं ग्रन्थकार ने 'प्रतिवादिगर्वप्रशान्तये' कह कर ध्वनित किया है।

२–ग्रन्थकार

दार्शनिक साहित्य में ग्रन्थकार की अपेक्षा ग्रन्थ को उद्धृत करने की प्रथा अधिक है। अत एव बहुत से ग्रन्थकार आज विस्मृति के गर्भ में हैं। सौभाग्य का विषय है कि मानमनोहर का अधिक उल्लेख होने

गुणों में महामानव की निरामयता का रहस्य प्रकट हुआ। अत एव चरकसंहिता में द्रव्यादि का सादर एवं विशद निरूपण किया गया है—

खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः।
सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्॥

सार्था गुर्वादयो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः।
गुणाः प्रोक्ताः प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते॥

समवायोऽपृथग्भावो द्रव्यादीनां गुणैर्मतः।
सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥ (चरक० पृ० ४)

पर भी हमारे ग्रन्थकार को भुलाया नहीं गया। उसका कुछ विवरण प्रस्तुत है—

१. नाम

चित्सुखी-व्याख्या नयनप्रसादनी के विस्पष्ट[1] उद्धरण बता चुके थे कि 'मानमनोहर' ग्रन्थ के रचयिता का पूरा नाम वादिवागीश्वर है। वैशेषिक सूत्रों की एक[2] वृत्ति भी वादिवागीश्वर नाम ही उद्धृत करती है। किन्तु सर्वदर्शनसंग्रह के "[3]यद्वादि वागीश्वरेण मानमनोहरे" इस लेख ने अवश्य भ्रम उत्पन्न कर दिया था कि मानमनोहरकार का नाम केवल वागीश्वर भी है। किन्तु अब यह तथ्य प्रकट हो गया कि ग्रन्थकार का नाम वादिवागीश्वराचार्य है और उनके पिता को वागीश्वराचार्य कहते थे। सर्वदर्शनसंग्रह का उक्त लेख सम्भवतः 'यद्वादि वादिवागीश्वरेण मानमनोहरे"—ऐसा रहा होगा, जिसमें से लिपिकारों एवं संशोधकों के प्रमाद से 'वादि' पद छूट गया प्रतीत होता है।

२. धर्म

श्री वादिवागीश्वराचार्य धर्मतः 'अन्तः शाक्तः बहिः शैव' प्रतीत होते हैं। द्रव्य-निरूपण के अन्त एवं ग्रन्थ समाप्ति में यदि त्रिपुरान्तक शम्भु को नमस्कार किया है, तो ग्रन्थ का आरम्भ चित्स्वरूपिणी शक्ति की वन्दना से अलंकृत है। वन्दना में प्रयुक्त अकुलस्थ-जैसे पारिभाषिक शब्दों की व्यञ्जना कौल मार्ग की ओर संकेत करती है। इसीलिए आचार्य आनन्दानुभव इन्हें स्पष्ट भाषा में वाममार्गी एवं मद्यपायी कहते हैं—वाममार्गानुसारिणा मानमनोहरे प्रलपितम्...सम्भावितमद्यपानस्य वेदान्तद्विषो मतमुपेक्षणीयम्।" (न्या०र०दी०पृ० ३३९-३४१)।

३. देश

मानमनोहर में उद्धृत [4]इष्टसिद्धि तथा [5]न्यायमकरन्दादि वेदान्त

---

१. "मानमनोहरकारेण वादिवागीश्वरेण" (नयन० पृ० ३७)। "वादिवागीश्वरोऽब्रवीत्" (नयन० पृ० २०२) "श्रीवल्लभवादिवागीश्वरसर्वदेवानाम्" (नयन० पृ० ३३३)। "सर्वदेववादिवागीश्वरादयरि" (नयन० पृ०४७४।)

२. "सौगतवादिवागीश्वरादयस्तु" (वै० सू० वृ० पृ० २६)।

३. सर्व० सं० पृ० २७८।

४. मानमनोहर पृ. ३४ पर उद्धृत है –"अत एव व्यवहराम." (इष्ट-सि. पृ. २)।

५. मानमनोहर पृ. ४४ पर उद्धृत है—मकरन्दस्तु

ग्रन्थों के रचयिता दाक्षिणात्य थे एवं मानमनोहर के विशेष आलोचक आचार्य [1]आनन्दानुभव, [2]चित्सुखाचार्य, [3]प्रत्यक्स्वरूप भगवान्, [4]आनन्दज्ञान, [5]माधवाचार्य, [6]आनन्दपूर्ण, [7]वेंकटनाथ, [8]श्रीनिवास आदि भी दाक्षिणात्य थे, अतः विद्वानों का यह कहना कि वादिवागीश्वराचार्य दाक्षिणात्य थे, नितान्त व्यावहारिक जँचता है।

आचार्य आनन्दानुभव की कटाक्ष-पूर्ण भाषा से ध्वनित होता है कि उन्हें वादिवागीश्वर का व्यक्तिगत परिचय था। बहुत सम्भव है दोनों एक ही प्रान्त के निवासी हों। आनन्दानुभव[9]कर्णाटक के कहे जाते है, अतः वादिवागीश्वर भी कर्णाटक के ही रहे होंगे।

४. समय

मानमनोहर (पृ० ४४६) में[10]न्यायमकरन्द उद्धृत है और स्वयं मानमनोहर की आलोचना न्यायरत्नदीपावलि (पृ० ३३९) में की गई है, अतः न्यायमकरन्द के रचयिता श्री आनन्दबोध भट्टारक (लगभग ११०० ई०) तथा न्यायरत्नदीपावलिकार श्री आनन्दानुभव (लगभग ११५० ई०) के मध्य का समय ११००–११५० या बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध वादिवागीश्वराचार्य का माना जा सकता है।

मानमनोहर (पृ० ३४) में इष्टसिद्धि का वाक्य उद्धृत है। इष्टसिद्धिकार श्री विमुक्तात्मा का[11] समय ८५०–१०५० कहा जाता है।

---

१. न्या. र. दी. पृ. ३३६

२. चित्सु पृ. ४०. २१६. ४०१. ५१६. ५६५. आदि

३. नयन. पृ ३४. ३७. ३९ आदि

४. श्री आनन्दज्ञान ने अपने तर्क संग्रह (गायकावाड़ सं. सीरिज. प्रकाशित १९१७) में मानमनोहर का निरास किया है।

५. सर्वद. सं. पृ. २७८

६. न्यायचन्द्रिका पृ. ३५४. ३६६. ४८६

७. न्यायपरिशुद्धि पृ. २७८

८. न्यायपरिशुद्धि की न्यायसार व्याख्या पृ २७८

९. "स च कर्णाटकदेशीय इत्यस्य व्यवहारादवगम्यते" (न्या. र. दी. भूमिका पृ. २७)।

१०. जैसे मानमनोहर में न्यायमकरन्द का उल्लेख केवल 'मकरन्द' शब्द से किया है, वैसे ही आनन्दानुभव ने भी कहा है—"मकरन्दादिषु" (न्या० र० दी० पृ० १०७)। अतः उस समय ऐसी ही प्रथा होगी।

११. द्रष्टव्य इष्टसिद्धि-भूमिका पृ० ३।

इन्हें आनन्दवोध अपना गुरु मानकर (प्रमाणमाला पृ० ४ पर) कहते हैं—'एतदेवोक्तं गुरुभिः—नान्यत्र कारणात् कार्यं न चेत् तत्र क्व तदा भवेत्" (इष्टसि० पृ० १४५)। इस लिए आनन्दवोध भट्टारक का समय ग्यारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण ही मानना उचित है। इन्हें अपने ग्रन्थों का प्रणयन एवं प्रचय-गमन के लिए कम-से-कम पच्चीस वर्ष अपेक्षित हैं। इस प्रकार ११२५ ई० के लगभग ही मानमनोहरकार ने मकरन्द पान किया होगा।

श्री चित्सुखाचार्य (१२२०–१२२५) ने मानमनोहर की शल्य-क्रिया भली भाँति की है। चित्सुखी में आनन्दानुभव की न्यायरत्न-दीपावलि के प्रयोगों का वहुत उपयोग किया है। अतः आचार्य चित्सुख से पूर्व आनन्दानुभव और आनन्दानुभव से पूर्व वादिवागीश्वराचार्य की स्थिति को ध्यान में रखने से भी वादिवागीश्वर का समय वारहवीं शताब्दी का प्रथम या द्वितीय चरण ही प्रतीत होता है। विद्वद्वर श्री अनन्तलाल ठाकुर ने भी यही माना है—"वादिवागीश्वरस्तु दाक्षिणात्यप्रसिद्धः खिष्टीयाष्टमाद् द्वादशशतकान्तवर्तीति" (वै० सू० वृत्ति-भूमिका पृ० १६)।

प्रसिद्ध विद्वान् डा० वी० राघवन् शालिकनाथ और आनन्दानुभव के मध्य काल ७५०–११०० में वादिवागीश्वर की स्थिति [1] वताते हैं। आनन्दानुभव ने न्यायमकरन्द को उद्धृत किया है। न्यायमकरन्दकार आनन्दवोध का समय ११५० ई० पण्डितराज एस्० सुब्रह्मण्यशास्त्री [2] लिखते हैं। किन्तु इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा (८५०–१०५०) तथा उनके साक्षात् शिष्य आनन्दवोध के मध्य एक सौ वर्ष का अन्तर उचित नहीं जान पड़ता। अतः आनन्दवोध का समय ११०० ई० आनन्दानुभव का ११५० ई० तथा ११००–११५० ई० [1] वादिवागीश्वराचार्य का स्थिति काल मानना अधिक न्याय-संगत है।

३–ग्रन्थ

मुझे जो मातृका प्राप्त हुई है, वह वहुत अशुद्ध है। उस में किसी प्रकार का विभाग, परिच्छेद या वर्गीकरण नहीं है। मानमनोहर के आलोचक वेदान्ताचार्यों की कृपा से केवल पाठ-शुद्धि ही नहीं हुई, उपक्रम उपसंहार का भी ज्ञान हुआ। सुविधार्थ वर्गीकरण भी किया गया है।

---

१. द्रष्टव्य ब्रह्मविद्या भा* ६ खं०१ फरवरी १९४२ ई०

२. द्रष्टव्य न्यायसार व्याख्या न्यायमुक्तावली-भूमिका पृ० २४

१. वर्गीकरण

दस प्रकरणों में समग्र ग्रन्थ का विभाजन किया गया है—

१. सिद्धि-प्रकरण में ईश्वर, अवयवी और परमाणुओं की सिद्धि की गई है।
२. द्रव्य-प्रकरण में पृथिव्यादि नव द्रव्य वर्णित हैं।
३. गुण-प्रकरण में रूपादि चौबीस गुणों का निरूपण किया गया है।
४. कर्म-प्रकरण में उत्क्षेपणादि पाँच कर्म चर्चित हैं।
५. सामान्य-प्रकरण में परापर जातियों का विशद वर्णन किया गया है।
६. विशेष-प्रकरण में विशेष पदार्थ का संक्षिप्त निरूपण है।
७. समवाय-प्रकरण में समवाय सम्बन्ध की सिद्धि की गई है।
८. अभाव-प्रकरण में प्रागभावादि चार अभाव भेदों का स्वरूप बताया गया है।
९. इतर पदार्थ-निराकरण प्रकरण में शक्ति, सादृश्य प्रकृति आदि का खण्डन है।
१०. मोक्ष-प्रकरण में दुःखाभावात्मक मोक्ष की सिद्धि की गई है।

२. प्राकरणिक विशेषताएं

१. प्रत्येक पदार्थ का निरूपण एक अनुमान-प्रयोग के द्वारा आरम्भ किया गया है। अन्त में उसमें उसका लक्षण कर दिया जाता है। ईश्वर, अवयवी और [1]परमाणुओं के निरास की विपक्षीय, विशेषतः बौद्धीय तर्कों का संक्षिप्त प्रदर्शन एवं उनका संतुलित समाधान किया गया है। अनावश्यक विस्तार से ग्रन्थ को सर्वत्र बचाया है।

---

१. परमाणु-कारणतावाद की आलोचना ब्रह्मसूत्रों में की गई है। भाष्यकार ने भी अपने व्याख्यातृत्व का निर्वाह किया है। उनको देखा-देखी तत्त्वप्रदोपिका एवं न्यायचन्द्रिकादि ग्रन्थों ने परमाणुओं के निराकरण में वसुबन्धु तथा शान्तरक्षित की तर्क प्रणाली अपनायी एवं मानमनोहर का भी अन्धा-धुन्ध खण्डन किया है, किन्तु आचार्य शंकर के अपने उद्गार जिस तनीयान् पांसु-कण को विश्व का मूल बताते हैं, वह परमाणु से भिन्न और कुछ भी नहीं—

तनीयांसं पांसुं तव चरणपङ्केरुहभवं,
विरिञ्चिः संचिन्वन् विरचयति लोकानविकलम्।
वहत्येतं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसां,
हरः संक्षुभ्यैनं भजति भसितोद्धूलनविधिम्॥

(सौन्दर्य श्लो. २)

२ प्रत्येक द्रव्य का व्यवस्थित निरूपण करके अन्त में उसके सभी गुण गिनाये गये हैं। पूर्वाचार्यों के अनुमानों और लक्षणों की कहीं-कहीं समालोचना भी की गई है। आत्म-निरूपण के अवसर पर वेदान्त-सम्मत आत्मा की ज्ञानरूपता तथा अखण्डता का प्रचण्ड खण्डन किया है। नानात्मवाद की साधना की गई है तथा एकात्मवाद की वेदान्त-कथित युक्तियों का प्रतिवाद किया गया है। द्रव्य-प्रकरण के अन्त में अन्धकार की द्रव्यरूपता का खण्डन कर उसे आलोक का अभावमात्र बताया है।

३. बौद्धादि-अभिमत गुण-गुणी के अभेद की आलोचना करते हुए भेद की सिद्धि की गई है। बुद्धि-निरूपण के समय प्रभाकर के अख्याति-वाद का पूर्णतया प्रत्याख्यान किया गया है। सविकल्पक ज्ञान की प्रत्यक्ष प्रमाणता सिद्ध कर बौद्धों की निर्विकल्पमात्र की प्रत्यक्ष प्रमाणता को चुनौती दी गई है। अनुमिति-निरूपण-प्रसङ्ग में प्रतिज्ञादि पाँच अवयवों के स्थान पर केवल दो अवयवों का प्रयोग ही उचित ठहराया है—"अङ्गे च द्वे एव व्याप्तिपक्षधर्मत्वे" (मा. म. पृ० ८५)। शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि का निरास किया गया है। प्रसङ्गतः वेदों की पौरुषेयता सिद्ध की है।

४. न्यायभूषणकार भासर्वज्ञ ने कर्म के विषय में लिखा है—कर्मवर्गोऽपि पञ्चविंशतमो गुणभेद एवास्तु" (न्या. भू. पृ. १५८) अर्थात् उत्क्षेपणादि क्रिया-कलाप भी पचीसवाँ गुणमात्र है। उदयनाचार्य ने भी भूषणकार को साधुवाद दिया है—'वरं भूषणः, कर्मापि गुणः, तल्लक्षणयोगित्वात्" (किर. पृ० १६०) अर्थात् भूषणकार ने बहुत अच्छा किया कि कर्म को भी गुण मान लिया, क्योंकि गुण का लक्षण (अस्पर्शत्वे सति सामान्यवत्त्वे च सति द्रव्याश्रितत्वम्) कर्म में घट जाता है। किन्तु मानमनोहरकार ने कर्म का लक्षण माना है—"आद्यविभागासमवायिकारणं कर्म संयोगविभागयोरनपेक्षकारणत्वाहं वा" (मा. म. पृ० ११३) और कहा है कि गुणों से कर्म को भिन्न मान कर सूत्रकार की मर्यादा को बनाये रखना ही उचित है।

५. सामान्य-प्रकरण में पर और अपर जातियों की पृथक्-पृथक् सिद्धि के लिए लगभग २७ अनुमान-प्रयोग किये हैं। प्रसङ्गतः ब्राह्मणत्व जाति के विषय में कहा है कि ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होना ब्राह्मणत्व नहीं, क्योंकि सर्गारम्भ में उत्पन्न प्रथम ब्राह्मण में उक्त ब्राह्मणजन्यत्व धर्म नहीं है। अतः ब्राह्मणत्व जाति प्रत्यक्ष-सिद्ध धर्म

विशेष है, जो कि योनिज और अयोनिज ब्राह्मणों में विद्यमान होकर उनके वर्चस्व का साक्षी है।

६. संग्राहक और विभाजक[1] के रूप में आदरणीय सामान्यलक्षण तथा स्वलक्षण की कल्पना की गई है। वैशेषिकों की साधर्म्य-वैधर्म्य प्रक्रिया ही वेदान्त-सम्मत अन्वय-व्यतिरेक का स्रोत प्रतीत होती है। इसके लिए सामान्य के पश्चात् विशेष का-औचित्य ध्वनित किया गया है।

७. समवाय सम्बन्ध की एकता और नित्यता का स्थापन मनोरम युक्तियों से किया गया है—आकाश एक है ओर नित्य। उसका अनन्त शब्दों के साथ सम्बन्ध भी एक है तथा नित्य। भाट्टगण शब्द को नित्य[2] द्रव्य मानते हैं, उसका आकाश के साथ सम्बन्ध भी नित्य मानेंगे। इस प्रकार उस सम्बन्ध के नाम में भले ही विवाद रहे, किन्तु वह वस्तु निर्विवाद-सिद्ध है।

८. अभाव' पदार्थ के विषय में प्रभाकर की तर्क-प्रणाली का बारीकी से अध्ययन, विश्लेषण एवं निराकरण किया गया है। अभाव की सिद्धि भी अनूठे ढँग से की गई है। अभाव के चारों भेदों के लक्षण नितान्त विस्पष्ट एवं निर्दुष्ट किये गये हैं।

९. शक्ति तत्त्व की साधना में मीमांसा-पक्ष का सम्यक् उपपादन मानमनोहरकार की मीमांसा-मर्मज्ञता का अवद्योतक है। उस पक्ष का निरास भी उसी प्रकार संक्षिप्त एवं मर्यादित भाषा में किया गया है। ज्ञातता के साथ-साथ विशिष्टता, विषयविषयिभाव, सांख्यीय प्रकृति आदि की पदार्थान्तरता का सक्षम प्रतिवाद किया गया है।

१०. मोक्ष-प्रकरण में आनन्द-मोक्षतावाद का खण्डन किया गया है। दुःखाभावरूप मोक्ष की सिद्धि में अकाट्य युक्तियाँ प्रदर्शित हैं। वेदान्ती ने आक्षेप किया कि दुःखोच्छेद स्वतः सिद्ध है, उसके उद्देश्य से किसी की प्रवृत्ति क्योंकर होगी? इसके उत्तर में मानमनोहरकार ने कहा है कि आपका आनन्द नित्य-सिद्ध है, कृति-साध्य नहीं, अतः वह भी किसी प्रज्ञावान् की प्रवृत्ति का उद्देश्य कैसे बनेगा? अतः वेदान्त को भी यह

१—चरकमुनि ने कहा है—

सामान्यमेकत्वकरं विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।
तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विपर्ययः॥ (चरक. १।१।४४)

२ पार्थसारथि मिश्र ने कहा है—"वर्णानां तु नित्यानां द्रव्यत्वमङ्गीक्रियते" (शा० दी० पृ० १४६)।

मानना पड़ेगा कि अविद्या या आवरण के उच्छेदार्थ ही मुमुक्षु की प्रवृत्ति होती है, अविद्या दुःख रूप है। फलतः हम दोनों एक पथ के ही पथिक हैं, विवाद की क्या आवश्यकता? प्रकरणान्त की पुष्पिकाओं में श्री वादिवागीश्वराचार्य ने अपनी लम्बी-चौड़ी विरुदावलियों का कहीं भी प्रदर्शन नहीं किया है। अतः गम्भीर वैदुष्य के साथ-साथ आडम्बर-हीनता सुवर्ण में सौरभ है।

४—प्रशस्तपाद-भाष्य से मानमनोहर का अन्तर

वैशेषिक परिवार के परवर्ती प्रायः सभी स्वतन्त्र ग्रन्थ आचार्य प्रशस्तपाद के 'पदार्थधर्मसंग्रह' का ही अनुगमन करते हैं। सप्तपदार्थी-जैसे विरल ग्रन्थ ही सूत्रकार की शैली पर चले हैं। 'मानमनोहर' भी 'न्यायलीलावती' के समान भाष्यकारीय पद्धति को अपनाता है। फिर भी कई स्थलों पर इसका अन्तर स्पष्ट अभिलक्षित होता है—

१. महर्षि कणाद ने प्रतिज्ञा की—'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' (वै. सू. १।१।१ धर्मोपदेश आरम्भ भी कर दिया—यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वै. सू. १।१।२)। वेद के वेला-पुलिन में भी पहुंच गये—'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' वै. सू. (१।१।३)। किन्तु तुरन्त वेद के महासागर में डुबकी लगाकर निकले तो धर्म की परिधि से बहुत दूर का उपदेश देने लगे—'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' (वै. सू. १।१।४)। इस प्रकार प्रतिज्ञाननुरूप पदार्थप्रतिपादन पर प्राचीन काल में आक्षेप उठे थे—

धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम्।
हिमवद्गन्तुकामस्य सागरगमनोपमम्॥ (कलाप-व्याख्या)

इस आक्षेप को ध्यान में रखकर प्रशस्तपाद ने उक्त प्रतिज्ञावाक्य के 'धर्म' शब्द की प्रकरण-संगत व्याख्या की—'पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः' (प्र. भा. पृ. १) उसके पश्चात् द्रव्यादि पदार्थों का वर्णन आरम्भ हो गया, जो कि अत्यन्त संगत और न्यायोचित है। धर्माधर्म के समान ईश्वर को भी प्रशस्तपाद ने प्रथम स्थान नहीं दिया, केवल प्रसङ्गवश कह दिया—'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव' (प्र. भा. पृ. २)। किन्तु बौद्धों की मार से भागे भक्तों का भगवान् ही एक सहारा था। त्रिशरण-गमन ने भगवत्प्रपत्ति का अपना मौलिक रूपधारण किया। विशेषतः नैयायिक और वैशेषिक अपने-अपने ग्रन्थों के आरम्भ में ईश्वर की साधना-आराधना करने लगे। कौन यह

सुझाव देने का साहस कर सकता था कि पृथिवी, जल, तेज और वायु का निरूपण करके सृष्टि-प्रलय प्रक्रिया के प्रसङ्ग में ईश्वर की सत्ता सिद्ध कर दी जाय, जैसा कि शिवादित्य मिश्र ने सप्तपदार्थी में एवं श्री सर्वदेव ने प्रमाणमंजरी में किया है। किन्तु यहां तो जल्दी पड़ी थी वक्रानुमान-पाटियों में नाम लिखाने की। वह लिखा गया– श्रीमहाविद्यामानमनोहरप्रमाणमञ्जर्यादिपठितवक्रानुमानस्यापि तथात्वम्" (न्या. परि. पृ २७८)। ईश्वर के साथ-साथ अवयवी द्रव्य तथा परमाणु के विषय में भी घोर शास्त्रार्थ होते रहते थे। अतः तीनों की सिद्धि मानमनोहर में पहले ही की गई है। फलतः आचार्य प्रशस्तपाद की वर्ण्य-क्रम-योजनिका विपरीत वात्या-चक्र में प्रलीन हो गई।

२. आत्म निरूपण के अवसर पर भेद की सिद्धि, अखण्डार्थता का निरास एवं आत्म-नानात्व का व्यवस्थापन कर वादिवागीश्वर ने अद्वैत वेदान्तियों पर भयङ्कर प्रहार किये हैं। आचार्य प्रशस्तपाद ने ऐसा आक्षेप-विक्षेप का कोई कार्य नहीं किया है। इसीलिए आनन्दानुभव मानमनोहरकार को वेदान्तविद्वेषी कहते हैं।

३. अन्धकार के विषय में सूत्रकार ने कहा है– 'द्रव्यगुणकर्म-निष्पत्ति-वैधर्म्याद् अभावस्तमः।' "तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च" (वै. सू. ५।२।१९,२०)। अर्थात् द्रव्यादि भावपदार्थों का वैधर्म्य तम में है, अतः इसे अभाव मानना चाहिए। अनुभूति भी ऐसी ही होती है कि जहाँ आवरक या कुड्यादि के व्यवधान के कारण आलोक नहीं पहुँच पाता, वहाँ ही अन्धकार प्रतीत होता है। आचार्य प्रशस्तपाद के मौन रहने पर भी मानमनोहरकार तम को आलोकाभाव ही बताते हैं और कन्दलीकार आदि का[1] मत भी दिखाया है।

४. रूप, रस आदि के भेदों में चित्र रूप या चित्र रस का वर्णन भाष्य में नहीं है। सप्तपदार्थीकार ने कहा है—"रूपं सितलोहितकृष्ण-

---

१. माधवाचार्य ने कई मतों का संग्रह किया है—'द्रव्यं तम इति भाट्टा वेदान्तिनश्च भणन्ति, आरोपितं नीलरूपमिति श्रीधराचार्याः, आलोकज्ञानाभाव इति प्राभाकरैकदेशिनः आलोकाभाव इति नैयायिकादयः' (सर्व. सं. पृ. २२१) शिवादित्य ने भी कहा है—'अन्धकारोऽप्यभाव' (सप्त. पृ. ३७)। जैनाचार्य अन्धकार को परमाणुओं का कार्य मानते हैं—'तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणम् अथ च पौद्गलिकम्' (सर्वार्थसिद्धि ५।२४)। वैयाकरण भी ऐसा ही मानते हैं—

अणवः सर्वशक्तित्वाद्भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः॥ (वाक्य. १।१११)

हरितकपिशचित्रभेदात् सप्तविधम्। रसोऽपि मधुरतिक्तकटुकषायाम्ल-लवणचित्रभेदात् सप्तविधम्" (सप्त. पृ. २६)। मानमनोहरकार ने तो रूप, रस, गन्ध और स्पर्श – चारों के लिए कहा है—"चित्रा' अपि तेऽवगन्तव्याः" (मा म. पृ. ५६)।

४, प्रशस्तपाद ने अविद्या के चार भेद किये हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। किन्तु मानमनोहरकार कहते हैं—अस्माभिरन-वधारणत्वस्य संशयानध्यवसाययोरभ्युपगतेः, तेन चास्मदुक्तावान्तर-भेदस्याभ्युपगतत्वाद् भासर्वज्ञेन सहास्माकं नास्ति विप्रतिपत्तिरिति" (मा. म. पृ. ७८-७९)। विपर्यय का लक्षण भी भासर्वज्ञ के लक्षण (मिथ्या अध्यवसायो विपर्ययः के अनुसार ही किया है— 'मिथ्या निश्चयो विपर्ययः" (मा. म. पृ. ७९)। इस प्रकार भासर्वज्ञ के अनु-सार ही स्वप्न का विपर्यय में अन्तर्भाव करके अविद्या के दो ही भेद (संशय और विपर्यय) मानमनोहरकार को अभीष्ट प्रतीत होते हैं। शिवादित्य मिश्र ने भी कहा है—'तर्कस्वप्नौ संशयविपर्ययावेव" (सप्त. पृ. ३१)

५ भाष्यकार ने परार्थानुमान के पाँच अवयव माने हैं [२]'अव-यवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः"(प्र भा. पृ.११४)।

---

१. न्यायवार्तिककार ने चित्रवाद पर एक लम्बे शास्त्रार्थ का उपक्रम करते हुए कहा है—उपेत्य चित्रवादं ब्रूमः पटस्य चित्रं रूपमिति' (न्या. वा. ४।२।११) वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है—पटस्य चित्रं रूपमित्यनुभव एवात्राबाधितः प्रमाणम् (तात्पर्य. पृ. ६४५)।

२. माठराचार्य ने अवयवों के विषय में अपना मत दिखाते हुए परमत-प्रदर्शन में यही वाक्य उद्धृत किया है—"अनुमानं त्रिसाधनं त्र्यवयवं पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्।" पञ्चावयवमित्यपरे। तदाह—अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेश-निदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः" (माठरवृत्ति. का. ५)। न्यायसूत्रकार ने भी पाँच अवयव माने हैं—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" (न्या. सू. १।१।३२)। न्यायभाष्यकार ने दशावयववाद भी दिखाया है—"दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते—जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनं, संशय-व्युदासः।" (न्या. भा. १।१।३)। युक्तिदीपिका में दश अवयवों की व्यवस्था इस प्रकार की गई है—"तस्य पुनरवयवाः – जिज्ञासासंशय-प्रयोजनशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासलक्षणाश्च व्याख्याङ्गम्, प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपसंहार-निगमनानि परप्रतिपादनाङ्गम्" (युक्ति. १।२।६)।

किन्तु वादिवागीश्वराचार्य ने कहा है—[१]"अङ्गे च द्वे एव व्याप्तिपक्ष-धर्मत्वे" (मा. म. पृ. ८५)।

६. अभाव पदार्थ का स्पष्ट प्रतिपादन न तो सूत्रों में उपलब्ध होता है और न भाष्य में। "कारणाभावात् कार्याभाव" (वै. सू. १।२। १)। "तदा निरोधात् निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः" (प्र. भा. पृ. १४४)--इस प्रकार अभाव का उल्लेख तो दोनों ने किया है, किन्तु पृथक् पदार्थ के रूप में अभाव का निर्देश नहीं किया गया है। आचार्य उदयन ने वस्तु-स्थिति स्पष्ट की है--"एते च पदार्थाः प्रधानतयोद्दिष्टाः, अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः, प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् न तु तुच्छत्वात्। उत्पत्तिविनाशचिन्तायां प्रागभावध्वंसाभावयोः, वैधर्म्ये चेतरेतराभावात्यन्ताभावयोश्च तत्र निर्दिश्यमानत्वात्" (किर० पृ० ३८-३९)। सप्तपदार्थी (पृ ६३) में चारों अभावों के लक्षण किये गये हैं। अतः मानमनोहरकार ने भाष्यकार के परवर्ती आचार्यों का अभाव-निरूपण में अनुगमन किया है।

७. इतर पदार्थों के निरास में भी शिवादित्य मिश्र ने ही शक्ति सादृश्य, ज्ञातता तथा वैशिष्ट्यादि का खण्डन किया है। अतः भाष्य की अपेक्षा सप्तपादर्थी की पदार्थ-प्रक्रिया का विशेष प्रभाव मानमनोहर पर प्रतिलक्षित होता है।

८. मानमनोहर का मोक्ष-प्रसङ्ग प्रायः भाष्य से मिलता-जुलता ही है, कुछ अंश उपनिषत् की भाषा में कहा गया है।

---

१. वैशेषिक सूत्र-वृत्तिकार ने मानमनोहर का यह मत उद्धृत करते हुए कहा है—"सौगतवादिवागीश्वरादयस्तु यो धूमवानसावग्निमान् यथा महानसम्, धूमवांश्च पर्वत इत्यवयवद्वयमेवप्रयोक्तव्यमित्याहुः" (वै. सू. वृत्ति. पृ. ३६)। आचार्य दिङ्नाग ने अवयवों के प्रसङ्ग में कहा है—"पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते" (न्यायप्रवेश. पृ. १)। इस पर श्री पार्श्वदेव ने स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है—"सौगतमते तु न पक्षावयमपीष्यत, किन्तु तन्मते हेतुपुरःसर एव प्रयोगः क्रियते। ततो हेतुदृष्टान्तयोरेव साधनावयवत्वं न पक्षस्य। न साधनावयवत्वादस्य (पक्षस्य) लक्षणमुच्यते, किन्तु शिष्यस्य सम्यक्त्वलक्षण-परिज्ञानार्थम्" (न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका. पृ. ४२)। अवयववाद का निष्कर्ष निकालते हुए पार्थसारथि ने कहा है—

तच्च पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम्।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्॥ (शा.दी. पृ. ६४)

५—मातृका

१९१७ ई० में गायकवाड़ संस्कृत ग्रन्थ-माला के अन्तर्गत आनन्द-ज्ञानकृत तर्कसंग्रह का प्रकाशन हुआ था। उसकी भूमिका के विद्वान् लेखक श्री टी. एम्. त्रिपाठी ने सर्व-प्रथम 'मानमनोहर' की पाण्डुलिपि के विषय में लिखा था कि वह श्री नाथद्वारा मन्दिर के पुस्तकालय में सुरक्षित है। उसके पश्चात् १९४२ ई० में विद्वद्वर डा० वी० राघवन् ने ब्रह्मविद्या में एक लेख लिखा—'दि वर्क्स आफ वादिवागीश्वर'। उसमें भी संकेत दिया था कि मानमनोहर की पाण्डुलिपि श्री नाथद्वारा-मन्दिर एवं बीकानेर महाराज के पुस्तकभण्डार में विद्यमान है। पाटण-भण्डार में सुरक्षित मातृका का किसी को ज्ञान नहीं था। कुछ वर्ष-पूर्व हमारे आदरणीय स्वामी सत्यस्वरूप शास्त्री अपनी फटी-पुरानी पाण्डुलिपियों का मिलान करने के लिए निकल पड़े। तब उन्हें पाटण में एक पूर्ण मातृका मिली और दूसरी नाथद्वारा में कुछ विस्तृत-सी जान पड़ी। उसके अधिक पाठ भी कुछ लिखे।

वे दोनों मातृकाएँ मुझे प्राप्त हुईं, एक पूर्ण है और दूसरी अपूर्ण। पूर्ण मातृका पाटण-भण्डार की मातृका से मिलाई गयी है। दूसरी अपूर्ण मातृका में जो नाथद्वारा-मन्दिर की मातृका के अधिक पाठ लिखे गये हैं, वे प्रायः दूसरी पुस्तकों के मूल पाठ हैं। जो कि टिप्पणीकारों ने कभी अपने सुविधार्थ टिप्पणी के रूप में लिखे होंगे, लिपिकारों की कृपा से मूल में सम्मिलित हो गये हैं, जैसे मानमनोहर पृ० ५ पङ्क्ति ७ में 'स एवेश्वर' के बाद एक लम्बा-सा खण्डलक बढ़ाया गया है। वह वस्तुतः न्यायकन्दली पृ० १४९ पं० ४ से लेकर, पृ० १५० पं० ५ तक का पाठ है—नन्वेकस्मिन्नर्थेऽनेकसाधनोपन्यासो व्यर्थः...न चैवं सत्यनवस्था, उपायाभावे सति विरामात्"। एवं कुछ पाठ न्या० कं० पृ० १४२ का है। इस प्रकार टिप्पणीगत पाठों के सम्मिलित हो जाने से मूल की कलेवर-वृद्धि भी हो गई होगी। अतः मैंने पाटणस्थ पाण्डुलिपि से मिली प्रति को ही आदर्श माना है।

६—आभार

परम सम्माननीय स्वामी सत्यस्वरूप शास्त्री का परम आभारी हूँ, जिन्होंने अपनी मातृकाओं का मिलान करने के लिए कई पुस्तकागारों में बहुत दिनों तक चक्कर लगाये। महान् प्रयत्न से संगृहीत मातृकाएँ मुझे सम्पादन एवं प्रकाशन के लिए प्रदान कीं। प्रूफ आदि के संशोधन में महन्त स्वामी हंसमुनिजी, दर्शनाचार्य ने पूर्ण सहायता की,

सूची-पत्रादि के निर्माण में हमारे विद्यालय के प्रधानाचार्य पण्डित श्री पुरुषोत्तम त्रिपाठी एवं स्वामी दिनकरानन्द ने सहयोग प्रदान किया है, अतः इन सब का आभारी हूँ।

इन दिनों विद्युत्संकट से वाराणसी का प्रत्येक क्षेत्र प्रभावित है। अतः न तो यथा समय एवं यथोचित प्रूफ-संशोधन ही हो पाया और न छपाई ठीक से हुई। मुद्रक की तत्परता के उपरान्त जो कमियां रह गईं, उसके लिए खेद है।

क्षन्तव्योऽयं प्रकृतिविवशो ग्रीष्मभीषाभिशप्तः,
शम्पाकूतक्षणिकभुवनप्रस्खलत्स्थेममार्गः ।
द्रव्ये विघ्नाश्चिति गुणतया नित्यसम्बन्धसिद्धाः,
बाधन्तेऽद्धा कणभुगजिरे पुण्यकार्यं विशेषम् ॥

षड्दर्शन प्रकाशन कार्यालय,
वाराणसी।

स्वामी योगीन्द्रानन्द

विषय-सूची

१. सिद्धिप्रकरणम् (२-१४)

१. ईश्वरसिद्धिः २
२. अवयविसिद्धिः ७
३. परमाणुसिद्धिः १०

२. द्रव्यप्रकरणम् (१५-५३)

१. पृथिव्या निरूपणम् १५
२. उदकस्य निरूपणम् १७
३. तेजसो निरूपणम् १८
४. वायोर्निरूपणम् १९
५ आकाशस्य निरूपणम् २२
६—७. दिक्कालयोर्निरूपणम् २६
८. आत्मनो निरूपणम् २८
१. आत्मनो ज्ञानाधारता २८
२. प्रभाकरमतनिरासः ३१
३. ज्ञानरूपत्वनिरासः ३३
४. भेदोज्जीवनम् ३४
५. अखण्डार्थत्वखण्डनम् ३७
६. नानात्वम् ४१
९. मनसो निरूपणम् ४५
१०. तमस आलोकाभावरूपता ४९

३. गुणप्रकरणम् (५४-११२)

१—४. रूपरसगन्धानां निरूपणम् ५४
५—६. संख्यापृथक्त्वयोर्निरूपणम् ५७
१. एकत्वैकपृथक्त्वयोः सिद्धिः ५७
२. अनेकत्वानेकपृथक्त्वयोः सिद्धिः ५९
७. परिमाणस्य निरूपणम् ६२
८. संयोगस्य निरूपणम् ६४
९. विभागस्य निरूपणम् ६५

१०-११. परत्वापरत्वयोर्निरूपणम् ६९
१२. बुद्धेर्निरूपणम् ७२
१. अख्यातिनिरासः ७५
२. अप्रमाज्ञानस्य भेदाः ७८
३. प्रत्यक्षज्ञानस्य निरूपणम् ७९
४. अनुमितिज्ञानस्य निरूपणम् ८१
१. अनुमितौ प्रमाणम् ८१
२. व्याप्तिस्वरूपम् ८१
३. परार्थानुमानम् ८४
४. अवयवद्वयवादः ८५
५. हेत्वाभासाः ८७
६. दृष्टान्ताभासाः ८९
५. आर्षज्ञानस्य निरूपणम् ८९
६. शब्दप्रमाणस्य निरासः ९१
७. वेदानां पौरुषेयत्वम् ९२
८. उपमानप्रमाणनिरासः ९५
९. अर्थापत्तेर्निरासः ९७
१०. अनुपलब्धेर्निरासः १००
१३-१४. सुखदुःखयोर्निरूपणम् १०१
१५-१७. इच्छाद्वेषप्रयत्नानां निरूपणम् १०२
१८-२१. संस्कारस्य निरूपणम् १०५
१. वेगः १०५
२. स्थितिस्थापकः १०६
३. भावना १०६
२२-२३. धर्माधर्मयोर्निरूपणम् १०७
१. धर्मः १०७
२. अधर्मः १०८
२४. शब्दस्य निरूपणम् १०९

४. कर्मप्रकरणम् (११३-११४)

१. कर्मभेदाः ११४

५. सामान्यप्रकरणम् (११५-१२८)

१. सत्ता ११७
२. द्रव्यत्वम् ११७

३. पृथिवीत्वम् २१८
४. जलत्वम् २१८
५. तेजस्त्वम् २१९
६. वायुत्वम् २१९
७. आत्मत्वम् २१९
८. मनस्त्वम् २१९
९. द्रव्यत्वादेः प्रत्यक्षत्वम् २१९
१०. रूपत्वम् २२०
११. रूपत्वस्य प्रत्यक्षत्वम् २२०
१२ नीलत्वम् २२०
१३. रसत्वम् २२१
१४ मधुरत्वम् २२१
१५. गन्धत्वम् २२१
१६. सुरभित्वम् २२१
१७. स्पर्शत्वम् २२२
१८. शीतत्वम् २२२
१९. संख्यात्वम् २२२
२०. परिमाणत्वम् २२२
२१ पृथक्त्वम् २२२
२२. संयोगत्वम् २२३
२३. विभागत्वम् २२३
२४. परत्वम् २२३
२५. ब्राह्मणत्वस्य प्रत्यक्षत्वम् २२४
२६. ब्राह्मणत्वम् २२४
२७. कार्यत्वम् २२४

६. विशेषप्रकरणम् (१२७)

१. विशेषस्य निरूपणम् १२७

७. समवायप्रकरणम् (१२८)

१. समवायस्य निरूपणम् १२८

८. अभावप्रकरणम् (१३२-१३४)

१. अभावस्य निरूपणम् १३२

९. पदार्थान्तरनिरासः (१३५-१४१)

१. शक्तेर्निरासः १३५
२. ज्ञातताया निरासः १३७
३ विशिष्टताया निरासः १३७
४. विषयविषयिभावनिरासः १३८
५. सादृश्यस्य निरासः १३८
६. प्रधानस्य निरासः १३९

१०. मोक्षप्रकरणम् (१४१-१४५)

१. मोक्षस्य स्वरूपम् १४२
२. मासर्वज्ञीयमोक्षनिरासः १४३

ॐ

नमो गणेशाय

श्रीवादिवागीश्वराचार्यविरचितः

मानमनोहरः

नमस्तस्यै महाभूतवद्धान् अमृतसेवनात् ।
मोचयत्यकुलस्थापि या शक्तिश्चित्स्वरूपिणी ॥१॥
वागीश्वराचार्यसुतेन वादिवागीश्वरेण क्रियते गभीरः ।
कथासु गर्जत्प्रतिवादिगर्वप्रशान्तये मानमनोहरोऽयम् ॥२॥

मानमनोहर की हिन्दी व्याख्या

भुवनेश्वरी

सहस्रधारके यस्मिन्नृषयो नो मनीषिणः ।
पुनन्ति स्वं वचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

कुलस्थाप्यकुलस्था या कुलकञ्जपदोत्पला ।
गमयेत् तमसः पारं सा तारा कापि तारिणी ॥ २ ॥

दक्षिणोऽयं कविर्वामो वामाऽमुष्य सरस्वती ।
वादिवागीश्वराचार्यो जीयान्मानमनोहरः ॥ ३ ॥

जो चित्स्वरूपिणी शक्ति अकुलस्थ [न कुलं विद्यते यस्य सोऽकुलः सदाशिवः, तत्स्था अर्थात् परमेश्वररूप भिन्न आधार में स्थित] होकर भी महाभूतों [महाभूत-जनित इक्कीस दुःखों] के बन्धन में जकड़े हुए जीवों को अमृत-पान कराकर मुक्त करा देती है, उस ईश्वरी शक्ति को नमस्कार है ॥ १ ॥

कथा (शास्त्र-चर्चा) में गरजते हुए वादि-गणों के गर्व को शान्त करने के लिए श्रीवागीश्वराचार्य के पुत्र वादिवागीश्वर के द्वारा 'मान मनोहर' नाम का यह दुर्गम ग्रन्थ वनाया जा रहा है ॥ २ ॥

(१)

सिद्धिप्रकरणम्

१-ईश्वरसिद्धिः—

१. विवादाध्यासितं कर्म प्रयत्नाधारजम्, कर्मत्वाद्, यत् कर्म तत् प्रयत्नाधारजं यथा–सम्प्रतिपन्नं कर्म, तथा विवादाध्यासितं कर्म, तस्मात् प्रयत्नाधारजम्। सर्वत्र प्रतिज्ञादिप्रयोगः पूर्वाचार्याभिप्रायेण।

---

(१)

सिद्धि-प्रकरण

१–ईश्वर की सिद्धि—

१. विवादास्पद (सृष्टि तथा प्रलय के अनुकूल परमाणुगत प्रथम) क्रिया, किसी प्रयत्नशील चेतन (ईश्वर) के द्वारा उत्पन्न की जाती है, क्योंकि वह क्रिया है, जो भी क्रिया होती है, वह प्रयत्न के आधारभूत चेतन से उत्पादित होती है, जैसे शरीरगत गमनादि क्रिया, वैसी ही यह (परमाणुगत) क्रिया है, इसलिए यह क्रिया भी प्रयत्न के आधारभूत चेतन से उत्पादित है। [शरीरादि की क्रिया निर्विवादरूप से जीव-प्रयत्न-साध्य होती है, अतः सिद्ध-साध्यता का परिहार करने के लिए 'विवादाध्यासित' पद दिया गया है। आचार्य आनन्दानुभव ने इसी अनुमान-प्रयोग का अनुवाद करते हुए 'विमत' पद का प्रयोग किया है—"विमतं कर्म प्रयत्नाधारजं, कर्मत्वात्" (न्या. रत्न. पृ. ३३९)। इस प्रकार जो क्रिया जीव-प्रयत्न-साध्य नहीं (सृष्ट्यादि के अनुकूल परमाणु-क्रिया) उसे ही पक्ष बनाया गया है, अतः जीव-प्रयत्न-साध्य क्रिया दृष्टान्त के रूप में सुलभ हो जाती है। उक्त परमाणुगत क्रिया के विषय में भाष्यकार ने कहा है—"महेश्वरेच्छात्माणुसंयोगजकर्मभ्यः" (प्र. भा. पृ. २०)। वस्तु-स्थिति यह है कि उपादान-विषयक अपरोक्ष ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न के आधार तत्त्व को कर्त्ता कहा जाता है। उसी का उल्लेख कहीं ज्ञानाधार, कहीं इच्छाधार और कहीं प्रयत्नाधार के रूप में पाया जाता है। इसी लिए मानमनोहरकार ने प्रयत्नजं न कहकर प्रयत्नाधारजं कहा है कि कर्त्ता का लाभ हो सके। आचार्य उदयन ने 'आयोजन' पद से इसी क्रिया का ग्रहण किया है—"परमाण्वादयो हि चेतनायोजिताः प्रवर्तन्ते" (कुसु. ५।४)]। सर्वत्र प्रतिज्ञादि वाक्यों का प्रयोग प्रशस्तपादादि पूर्वाचार्यों की निर्दिष्ट दिशा में करना चाहिए। महर्षि अक्षपाद ने कहा है—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" (न्या. सू. १।१।३२)। आचार्य प्रशस्तपाद ने

२. विवादाध्यासितं मूर्तं प्रयत्नाधारजम्, परमाणुव्यतिरिक्तत्वे सति मूर्तत्वात् ।

३. गन्धः प्रयत्नजः, गन्धत्वाद् घटवत् तद्गतगन्धवच्च । न च शरीरिणा-जन्यत्वाद्–इत्यनेन प्रकरणसमत्वम्, नापि तज्जन्यत्वमुपाधिः, अकार्यत्वस्योपाधेः, व्यर्थविशेषणत्वाच्च । एतेन व्याप्तिदर्शनकाले कर्मत्वकार्यत्वादेरङ्कुरतज्जननादी

भी कहा है—"अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः" (प्र. भा. पृ. ११४) । अतः वादिवागीश्वराचार्य ने भी यहाँ पूर्वाचार्यों के मार्ग का अनुसरण कर पाँच अवयवों का प्रयोग किया है । किन्तु मानमनोहरीय अनुमान-निरूपण में दो अवयवों का ही समर्थन किया है—"अङ्गे, च द्वे एव ।" एक वैशेषिक वृत्तिकार ने भी कहा है—"सौगतवादिवागीश्वरादयस्तु यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसम्, धूमवाँश्च पर्वत इत्यवयवद्वयमेव प्रयोक्तव्यमित्याहुः" (वै.सू.वृ.पृ. ३६)] ।

२. विवादास्पद मूर्त्त (द्व्यणुकादि जन्य) द्रव्य, प्रयत्न के आधार-भूत चेतन (ईश्वर) के द्वारा उत्पन्न किया जाता है, क्योंकि परमाणु से भिन्न मूर्त्त द्रव्य है, जैसे—घटादि [श्री आनन्दानुभव ने इस प्रयोग का अनुवाद किया है—"तथा मूर्त्तं प्रयत्नजं परमाण्वन्यत्वे सति मूर्त्तत्वात्, प्रतिपन्नवत्" (न्या. र. दी. पृ. ३९) । श्रीप्रत्यक्स्वरूप ने इस प्रकार उद्धृत किया है—"विवादाध्यासितमूर्त्तं प्रयत्नजं परमाणुव्यतिरिक्तत्वे सति मूर्त्तत्वात्" (चित्सु. पृ. ३७) । परमाणुओं में व्यभिचार न हो, अतः 'परमाण्वन्यत्वे सति' विशेषण दिया, एवं आकाशादि में व्यभिचार वारण करने के लिए 'मूर्त्तत्वात्', कहा । मन और परमाणुओं का पक्ष में संग्रह न हो, इस लिए विवादाध्यासितमूर्त्त द्रव्य कहा है] ।

३. गन्ध [प्रलयकाल में पार्थिव परमाणु गन्ध-रहित रहते हैं, अतः सृष्ट्यारम्भकालीन परमाणुओं में प्रथम गन्ध] किसी चेतन के प्रयत्न से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि जन्य है, जैसे—घट अथवा घटगत गन्ध । शरीराजन्यत्व हेतु के द्वारा उक्त साधन प्रकरणसम ['गन्धो न प्रयत्नजन्यः, शरीराजन्यत्वाद् आकाशवत्'—इस प्रकार विरोधी अनुमान के द्वारा सत्प्रतिपक्षित] है अथवा उक्त अनुमान में शरीर-जन्यत्व उपाधि है—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि विरोधी अनुमान में अकार्यत्व उपाधि है और शरीर-जन्यत्व उपाधि में शरीर पद व्यर्थ है । [आशय यह है कि उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान करते समय केवल जन्यत्वाभाव या अजन्यत्व के द्वारा प्रयत्न-जन्यत्वाभाव की सिद्धि की जा सकती है, शरीरजन्यत्वा-

केवलस्यापि दर्शनाद् व्याप्त्यनिश्चय इति पराकृतम्, उपाधिसद्भावस्याऽनिरूपितत्वात्। यावदुपाधिर्न निरूप्यते, तावदेकस्मिन्नपि पिण्डेऽनयोः सम्बन्धनियमे प्रयोजकत्वं वाच्यम्। अन्याप्रयुक्तसम्बन्धस्यापि साध्यपरित्यागे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात्, निरुपाधिकसम्बन्धत्वाच्च व्याप्तेः।

४. किञ्च विवादाध्यासिते पृथिव्युदके प्रयत्नवता धृते, गुरुत्वे सत्यपातित्वात् करतलामलकवत्।

भाव व्यर्थ है। श्रीप्रत्यक्स्वरूप ने इस खण्डलक का अनुवाद इस प्रकार किया है—"गन्धः प्रयत्नजः, गन्धत्वात् पटवत् तन्नतगन्धवच्च। न च शरीरिणाजन्यत्वादित्यनेन प्रकरणसमत्वम्, नापि तज्जन्यत्वमुपाधिरकार्यत्वस्योपाधेर्व्यतिरेकस्य व्यर्थविशेषणत्वाच्च" (चित्सु. पृ. ३७)]। इस लिए कुछ लोग जो यह दोष दिया करते हैं कि व्याप्ति-दर्शन काल में क्रियात्व और कार्यत्वादि हेतुओं में व्याप्ति-निश्चय ही नहीं होता, क्योंकि नवाङ्कुरित तृणादि और उनकी उत्पत्ति क्रिया में शरीर-निरपेक्ष जन्यत्वमात्र उपलब्ध होता है, [जैसा कि आचार्य उदयन कहते हैं—"कार्यस्य शरीरादिमत्पूर्वकत्वम्...... इति नियमः प्रत्यग्रजायमानाङ्कुरादावेव शरीरिणः कर्तुरनुपलम्भेन निरस्तः" (किर. पृ. ३२६)]। वह दोष निराकृत हो जाता है, क्योंकि वहाँ किसी प्रकार की उपाधि का सद्भाव निरूपित नहीं किया गया। जब तक उपाधि दोष का उद्भावन नहीं होता, तब तक एक पिण्ड में भी दृश्यमान सहचरित पदार्थों में प्रयोज्य-प्रयोजकभाव मानना होगा। अन्य (उपाधि) से अप्रयुक्त अर्थात् स्वभावसिद्ध सम्बन्ध (व्याप्ति) का परित्याग करने पर वस्तु-स्वभाव का ही परित्याग करना पड़ेगा, क्योंकि निरुपाधिक सम्बन्ध को ही व्याप्ति कहते हैं।

४. विवादास्पद पृथ्वी और जल दोनों किसी प्रयत्नवाले पुरुष (ईश्वर) के द्वारा अपनी कक्षा में धारे (रोके) गये हैं, क्योंकि वे गुरु (भारयुक्त) होने पर भी नीचे गिरते नहीं, जैसे हथेली पर उठाया हुआ आमलक (आँवला)। [आचार्य उदयन ने भी कहा है—"क्षित्यादिब्रह्माण्डपर्यन्तं हि जगत् साक्षात् परम्परया वा विधारकप्रयत्नाधिष्ठितं गुरुत्वे सत्यपतनधर्मकत्वाद् वियति विहङ्गमशरीरवत् तत्संयुक्तद्रव्यवच्च" (कुसु. ५।४)। पक्ष में गुरुत्व-रहित तेज आदि का संग्रह कर लेने पर भागतः स्वरूपासिद्धि होती है, अतः मानमनोहकार ने ब्रह्माण्ड में से पृथ्वी और जल को ही पक्ष चुना है, क्योंकि गुरुत्व इन दोनों में ही रहता है]।

५. ईश्वरज्ञानं नित्यम्, द्विष्ठव्यतिरिक्तत्वे सति ईश्वरनिष्ठत्वात्, तद्गतमहत्त्ववत् । न च ज्ञानत्वादित्यनेन प्रकरणसमत्वम्, कारणसद्भावस्योपाधेः । तस्यापि साधने बाधः—"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृह. उ. ४।३।२३) इत्यागमबाधः । अन्यथा जलपरमाणुरूपम् अनित्यम्, रूपत्वादित्यपि स्यात् । न च तत्रापि कारणसद्भाव उपाधिः, तस्यापि साधनाद् बाधाया अभावात् ।

६. विवादाध्यासितम् नित्यविशेषगुणाधारजम् कार्यत्वादाप्यद्व्यणुकवत् । यश्च नित्यविशेषगुणाधारः, स एवेश्वरः ।

---

५. ईश्वर में रहने वाला ज्ञान नित्य होता है, क्योंकि वह द्विष्ठ (दो पदार्थों में स्थित होने वाले संयोग और द्वित्व–जैसे) गुणों से भिन्न होता हुआ ईश्वराश्रित है, जैसे उस (ईश्वर) के आश्रित परममहत्त्व (व्यापकत्व) परिमाण । यदि कहा जाय कि उक्त अनुमान ज्ञानत्व हेतु के द्वारा सत्प्रतिपक्षित (ईश्वरज्ञानम् अनित्यं ज्ञानत्वात्, जीवज्ञानवत्—इस प्रकार विरोधी अनुमान से युक्त) है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञानत्व हेतु में सकारणत्व उपाधि है [अर्थात् जीव का ज्ञान इन्द्रिय-संयोगादि कारणों से जन्य होने के कारण अनित्य होता है और ईश्वर का ज्ञान किसी कारण से जन्य नहीं है, अतः अनित्य नहीं होता । सकारणत्व धर्म जीव-ज्ञानों में अनित्यत्व साध्य का व्यापक है और ईश्वर में ज्ञानत्व साधन का अव्यापक है, व्यभिचारी है, इस लिए वह उपाधि है] । यदि ईश्वर के ज्ञान में भी कारण-जन्यत्व की सिद्धि किसी हेतु से की जाय, तो वह आगम प्रमाण से बाधित होगा, क्योंकि "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (सर्वद्रष्टा ईश्वर की ज्ञानरूप दृष्टि कभी नष्ट नहीं होती, किन्तु नित्य होती है) इस प्रकार के श्रुति प्रमाण स्पष्ट रूप से ईश्वर के ज्ञान में अनित्यत्व का बाध करते हैं । अन्यथा (उत्पादक सामग्री के अभाव में भी अनित्यत्व मानने पर) जलीय परमाणु का रूप अनित्य होता है, क्योंकि वह (घट रूप के समान ही) रूप है—इस प्रकार का अनुमान भी होने लगेगा । यहाँ भी कारण-सद्भाव उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उस (उत्पादक सामग्री) की भी कल्पना की जा सकती है, जब कि उसका कोई बाधक नहीं ।

६. विवादास्पद (क्षित्यादि कार्य) नित्य विशेष गुणों के आधारभूत द्रव्य से उत्पन्न होता है, क्योंकि कार्य है, जैसे कि (नित्य विशेष गुणों के आश्रयीभूत जलीय परमाणु से जन्य) जलीय द्व्यणुक । इस प्रकार जो नित्य विशेष गुणों का आधार द्रव्य सिद्ध होता है, वही ईश्वर है ।

७. बौद्धं प्रति ईश्वरसाधनम्—विवादाध्यासितो विकल्पः तदतिरिक्ते प्रमा, प्रमात्वात्, निर्विकल्पकप्रमावत् । न चाश्रयासिद्धिस्वरूपासिद्धी,

ईश्वरादिषु भक्तानां तद्धे तुत्वादिकल्पना ।
वासनामात्रभाविन्यो जायन्ते विविधाः स्फुटम् ॥
(त. सं. २८२)

इति त्वयैवाभ्युपगतेः । मम सुतरामिष्टत्वात् । त्वन्मते स्वप्रकाशत्वेन सर्वज्ञानानां प्रमात्वात् । मम तु प्रकृतेऽविप्रतिपत्तेश्च ।

८. एतज्ज्ञानम्, एतदुत्पादकानित्यव्यतिरिक्तज्ञानजम्, कार्यत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत् । न चाऽत्रैतद्व्यतिरिक्तत्वमुपाधिः, तव व्यर्थविशेषणत्वात् । मम नित्येष्वपि

---

७. बौद्ध प्रतिवादी के प्रति ईश्वर-सिद्धि के लिए इस प्रकार अनुमान-प्रयोग करना चाहिये—विवादास्पद (ईश्वरोऽस्ति जगतां कर्त्ता—इस प्रकार का) सविकल्प ज्ञान अपने से भिन्न विषय वस्तु में प्रमाण होता है, क्योंकि वह प्रमाण है, जैसे निर्विकल्प ज्ञान । इस अनुमान में आश्रयासिद्धि या स्वरूपासिद्धि दोष नहीं है, क्योंकि स्वयं बौद्ध-वर श्री शान्तरक्षित ने ईश्वररूप आश्रय को स्वीकार करते हुए कहा है कि "ईश्वरादि में भक्तों के द्वारा रचित जगत्कर्तृत्वादि की विविध कल्पनाएँ पूर्व संस्कारों से उत्पन्न होती हैं।" हम (वैशेषिकगण) तो ईश्वर को मानते ही हैं, अतः ईश्वर की असिद्धि न तो बौद्ध-मत में है और न हमारे मत में। बौद्ध-सिद्धान्त में सभी ज्ञान स्वप्रकाश होने के कारण प्रमाण होते हैं [अतः सविकल्प ज्ञान में प्रमाणत्वरूप हेतु की भी असिद्धि नहीं]। सविकल्पक ज्ञान की प्रमाणता में वैशेषिकों का भी यहाँ कोई मत-भेद नहीं।

८. यह (जीव का यत्किञ्चित्) ज्ञान अपने उत्पादक अनित्य ज्ञान से भिन्न ज्ञान के द्वारा उत्पादित होता है, क्योंकि कार्य (जन्य वस्तु) है, जैसे ज्ञानान्तर [दृष्टान्तीभूत ज्ञान का जनक ज्ञान पक्षरूप ज्ञान के जनक ज्ञान से भिन्न होता है। इस प्रकार ज्ञानान्तर में प्रसिद्ध साध्य का पक्ष में सामञ्जस्य तभी हो सकता है, जब कि अनित्य ज्ञान से भिन्न कोई नित्य ज्ञान माना जाय। मानमनोहरकार के अधिकतर अनुमान-प्रयोग महाविद्या-प्रयोग हैं, जिनकी विशेषता यह है कि साध्य का समन्वय दृष्टान्त में अन्य प्रकार से और पक्ष में अन्य प्रकार से होता है। किरणावली की व्याख्या में वादीन्द्र ने पृ. ६७१ और प्रकाशकार ने पृ. ३२० पर ऐसा ही प्रयोग दिखाया है। इस प्रकार के चेतुके प्रयोगों ने बौद्धों तथा वेदान्तियों के समूचे अद्वैत साम्राज्य

सम्भवात्। कार्यत्वे सतीति विशेषणे पूर्वदोषानुषङ्गः। नित्यज्ञानाधार ईश्वर इतीश्वरलक्षणम्। तदेवं कार्यत्वादिभिर्हेतुभिः सिद्ध ईश्वरः॥

—:०:—

२–अवयविसिद्धिः—

१. सविकल्पकं सविकल्पकव्यतिरिक्त प्रमा, प्रमात्वात्, निर्विकल्पकप्रमावत्।

पर प्रबल प्रहार किये थे। उनका प्रतिरोध भी सशक्त भाषा में किया गया था। श्रीआनन्दानुभव कहते हैं—"ननु एतज्ज्ञानम् एतज्जनकानित्येतरज्ञानजं, कार्यत्वात् सम्प्रतिपन्नज्ञानवदिति नित्यज्ञाने सिद्धे तदाधार ईश्वरः सिद्धः। न, मानमनोहरकर्तृशरीरम् एतज्जनकाचाण्डालेतरजनितं कार्यत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्यपि निपुणम्मन्येन देवानांप्रियेण तेनानुमीयेत" (न्या. रत्न. पृ. ३४०)]। उक्त अनुमान में एतद्भिन्नत्व धर्म को उपाधि [जैसा कि प्रकाशकार ने कहा है—"एतदन्यत्वस्योपाधित्वात्" (किर. पृ. ३२०)] नहीं कह सकते, क्योंकि सभी पदार्थों को अनित्य मानने वाले बौद्धों के मत में व्यर्थ विशेषणता है और वैशेषिक मतानुसार एतद्भिन्नत्व नित्य पदार्थों में भी रह जाता है, किन्तु वहाँ उक्त साध्य नहीं रहता, अतः साध्य का समव्याप्त नहीं है। [मानमनोहरकार साध्य-समव्याप्त धर्म को ही उपाधि मानते हैं। अतः उदक-निरूपण में कहा है—"समव्याप्तिकत्वाभावात्"। पक्षेतरत्व की निवृत्ति के लिए समव्याप्ति की आवश्यकता होती है। अत एव श्रीमाधवाचार्य ने प्राचीन उद्धरण प्रस्तुत किया है—"तदुक्तम् अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते, स उपाधिः" (सर्वद. पृ. ११)। श्रीवेदान्तदेशिक वेङ्कटनाथ ने एक विशेषण और लगाया है—"साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तः साधनधर्मव्यतिरिक्तो धर्म उपाधिः" (न्या. परि. पृ. १०८)]। कार्यत्व विशेषण लगाकर कार्यत्वे सति एतद्भिन्नत्व को भी उपाधि कहने में पूर्वोक्त व्यर्थविशेषणता दोष होता है। नित्य ज्ञान के आधार तत्त्व को ईश्वर कहते हैं। उसकी सिद्धि कर्मत्वादि हेतुओं के द्वारा की जा चुकी है।

—:०:—

२–अवयवी की सिद्धि—

१. [वैभाषिकगण ज्ञान के दो भेद मानते हैं—ग्रहण और अध्यवसाय। निर्विकल्पक ज्ञान को ग्रहण तथा सविकल्पक ज्ञान को अध्यवसाय कहा जाता है। ग्रहण प्रमाण और अध्यवसाय अप्रमाण माना जाता है, क्योंकि ग्रहण या निर्विकल्पक ज्ञान की विषय वस्तु उस से भिन्न सत्य होती है। किन्तु अध्यवसाय या सविकल्पक ज्ञान का

२. एतत्कार्यम्, एतदुत्पादकज्ञानव्यतिरिक्तजन्यम्, कार्यत्वात् ।

३. निर्विकल्पकम्, निर्विकल्पकोत्पादकज्ञानव्यतिरिक्तजन्यम्, कार्यत्वाद्, ज्ञानान्तरवत्, सविकल्पकवच्च । न च निर्विकल्पकत्वमुपाधिः वैयर्थ्याद्विशेषणस्य ।

यत् प्रकाशते, तज्ज्ञानम्, यथा सम्प्रतिपन्नम्, प्रकाशते विवादपदमिति नात्र प्रकरणसमत्वम्, उभयवादिसिद्धाश्रयस्य दुर्निरूपत्वात् । एतेन वस्तुत्वादयो निरस्ताः । विमतं ज्ञानात्मकम्, वस्तुत्वात् सत्त्वात्, सम्प्रतिपन्नवदिति ।

विषय उससे भिन्न सत्य नहीं माना जाता, अपि तु रजतादि के समान कल्पनामात्र होता है । जैसा कि कहा गया है—

ग्राह्यं वस्तु, प्रमाणं हि ग्रहणं यदितोऽन्यथा ।
न तद्वस्तु न तन्मानं शब्दलिङ्गेन्द्रियादिजम् ॥ (सर्वद. पृ. ४४)

निर्विकल्प स्वलक्षण तत्त्व पर पाँच प्रकार की कल्पनाएँ होती हैं—१. द्रव्य या अवयवी की कल्पना, २. नाम की कल्पना, ३. जाति की कल्पना, ४. गुण की कल्पना और ५. क्रिया की कल्पना। मानमनोहरकार अवयवी आदि को भी वैसी ही सत्य वस्तु सिद्ध कर रहे हैं, जैसी कि निर्विकल्पक वस्तु—] अयं घटः इस प्रकार का अवयवि-विषयक सविकल्पक ज्ञान अपने से भिन्न (अवयविवस्तु) में प्रमाण होता है, क्योंकि वह वैसा ही प्रमाण ज्ञान है, जैसा कि निर्विकल्पक ज्ञान ।

२. यह (सविकल्पक ज्ञान के विषयीभूत घटादि) कार्य, अपने उत्पादक, ज्ञान-भिन्न (कपालादि) कारणों से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि कार्य हैं ।

३. निर्विकल्पक (निर्विकल्पक ज्ञान की विषयीभूत) वस्तु, अपने उत्पादक, ज्ञान-भिन्न कारणों से उत्पन्न होती है, क्योंकि कार्य है, जैसे—ज्ञानान्तर या सविकल्पक वस्तु । प्रथम अनुमान में निर्विकल्पकत्व उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि व्यर्थ-विशेषणता दोष होता है । [आशय यह है कि बौद्धमत में दो ही ज्ञान होते हैं—सविकल्पक और निर्विकल्पक । सविकल्पक ज्ञान पक्ष है, उससे भिन्न ज्ञान निर्विकल्पक ही शेष रहता है, अतः उसके लिए निर्विकल्पक विशेषण व्यर्थ है] ।

जो कुछ प्रतीयमान होता है, वह ज्ञानस्वरूप ही है, जैसे कि स्वप्न जगत् , अतः विवादास्पद (अवयवी) वस्तु भी प्रतीयमान होने से ज्ञानस्वरूप है—इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष-प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि उभयवादि-सम्मत दृष्टान्त सम्भव नहीं [स्वप्न जगत् को भी वैशेषिकगण ज्ञानस्वरूप नहीं मानते] । इसी प्रकार विषय में ज्ञानस्वरूपता के साधक वस्तुत्वादि हेतुओं का भी निराकरण हो जाता है । अर्थात्

४. स्थूलविकल्पो बाह्येऽर्थे प्रमा, प्रमात्वाद्, रूपदर्शनवदित्यवयविसिद्धिः । न च वृत्तिविकल्पादिबाधितत्वाद्युत्थानम्, तेषामेव प्रत्यक्षबाधितत्वात् ।

५. इन्द्रियं द्रव्यग्राहकं न भवति, इन्द्रियत्वाद्, रसनवदिति तु व्याप्त्यसिद्धि-स्वरूपासिद्धिदृष्टान्तासिद्धिदुष्टत्वादसाधनम् । प्रतियोगिनोऽज्ञाने व्यतिरेकस्य ज्ञातुमशक्यत्वाद् इन्द्रियस्वरूपस्य द्रव्यविशेषत्वाच्च ।

विवादास्पद घटादि वस्तु ज्ञानस्वरूप है, वस्तुत्व या सत्व का आश्रय होने के कारण—इस प्रकार के अनुमानों में भी उभय-सम्मत दृष्टान्त सुलभ नहीं ।

४. स्थूलोऽयं घटः—इस प्रकार का विकल्प ज्ञान बाह्य घटादि स्थूल वस्तु का ही प्रमापक होता है, क्योंकि वह प्रमा ज्ञान है, जैसे कि चित्ररूपविषयक प्रमा ज्ञान । [वादिवागीश्वराचार्य का आशय है कि विज्ञान सूक्ष्म है, आन्तर है, अस्थिर एवं एक स्वरूप है, अतः इसके विपरीत स्थूलता, बाह्यता, स्थिरता और चित्रत्व के समान विरोधी आकार ज्ञान के न होकर बाह्य घटादि अवयवी वस्तु के ही मानने होंगे, जैसा कि पार्थसारथि मिश्र ने कहा है—

अज्ञानस्थिरचित्रत्वबाह्यत्वादेरनात्मनः ।
असतो वा सतो वापि कथं विज्ञानरूपता ॥ (शा. दी. पृ. ५५)

अतः घटादि अवयवी द्रव्य को ज्ञान से भिन्न स्वीकार करना ही पड़ेगा] ।

घटादि अवयवी अपने कपालादि अवयवों में पूर्णतया वर्तमान रहता है, अथवा अंशतः ? इस प्रकार के वृत्ति-विकल्पों के द्वारा अवयवी का बाध हो जाता है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कथित वृत्ति-विकल्प ही प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित हो जाता है ।

५. इन्द्रियां, द्रव्य (अवयवी) की ग्राहक नहीं होतीं, इन्द्रिय होने के कारण, जैसे कि रसना इन्द्रिय (रसरूप गुणमात्र की ग्राहक होती है, आश्रय द्रव्य की नहीं)—इस प्रकार के साधन व्याप्त्यसिद्धि, स्वरूपासिद्धि और दृष्टान्तासिद्धिरूप दोषों से युक्त होने के कारण सद्धेतु नहीं होते [किन्तु हेत्वाभास होते हैं]। प्रतियोगी [इन्द्रिय में द्रव्य-ग्राहकत्व] का ज्ञान न होने पर अभाव [इन्द्रिय में द्रव्यग्राहकत्वाभाव] का ज्ञान सम्भव नहीं [क्योंकि अत्यन्ताभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है]। इन्द्रिय को द्रव्यविशेष माना जाता है। [आशय यह है कि गुणों से भिन्न द्रव्य बौद्ध नहीं मानते, जैसा कि प्रज्ञाकर कहते हैं—"तथा नास्ति द्रव्यं गुणव्यतिरिक्तम्" (प्र. वा. पृ. ५५४)। अतः उनके मत में इन्द्रियों की भी द्रव्य से उत्पत्ति न मानकर गन्धादि गुणों

६. अपरे तु गन्धोऽगन्धोपादानः, कार्यत्वाद्. रूपवदित्यवयविसिद्धि ब्रुवते। तत्र चोपादानशब्दस्य समवायिकारणवाचकत्वे दृष्टान्ताभावः, सजातीयमात्रवाचकत्वे सिद्धसाधनता, अत्यन्तसजातीयवाचकत्वे प्रतिज्ञापदयोर्व्याघातः। कार्यत्वे सति स्पर्शवद्वयवीत्यवयविलक्षणम्।

—: ० :—

३–परमाणुसिद्धिः—

१. विवादाध्यासितो गन्ध एतद्गन्धकारणेन जन्यते गन्धत्वात्, कार्यत्वा-

---

से ही माननी होगी, फलतः इन्द्रियों में गुणरूपता सिद्ध होगी। इस प्रकार इन्द्रियत्वरूप हेतु का अर्थ होगा—ज्ञानजनकगुणविशेषरूपत्वम्। किन्तु इन्द्रियरूप पक्ष में गुणरूपत्व नहीं है, क्योंकि सभी इन्द्रियां द्रव्य-रूप ही होती हैं, अतः स्वरूपासिद्धि दोष से दूषित उक्त अनुमान है]।

६. अन्य विद्वान् अवयवी की सिद्धि के लिए इस प्रकार का अनुमान-प्रयोग करते हैं—'गन्ध अगन्धोपादानक होता है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे रूप [सामान्य नियम यह है कि गन्धवान् द्रव्य ही गन्ध का समवायिकारण होता है, जैसा कि न्यायलीलावतीकार ने कहा है—"अस्ति तावद् गन्धं प्रति गन्धवतां समवायिकारणत्वम्" (न्या. ली. पृ. ७)]। उस प्रयोग में 'उपादान' शब्द का अर्थ समवायिकारण करने पर दृष्टान्त का अभाव हो जाता है, क्योंकि रूप का समवायिकारण गन्ध-रहित जलीय परमाणु मिल जाते हैं, जिन्हें अवयवी नहीं कह सकते। यदि 'उपादान' शब्द को सजातीयमात्र का वाचक माना जाय, तब सिद्धसाधन दोष होता है। क्योंकि गन्ध और अगन्ध में पदार्थत्व, ज्ञेयत्वादि का साजात्य सभी मानते हैं, इससे अवयवी की सिद्धि भी नहीं होती। अत्यन्त साजात्य की विवक्षा होने पर प्रतिज्ञा वाक्य-घटक गन्ध और अगन्ध पदों में अत्यन्त साजात्य सम्भव नहीं। 'कार्यत्वे सति स्पर्शवत्त्वम्'—यह अवयवी का लक्षण होता है। [नित्य पदार्थों में अतिव्याप्ति न हो, इसलिए जन्यार्थक कार्य पद का प्रयोग किया गया है। गन्धादि गुणों से अतिप्रसङ्ग हटाने के लिए स्पर्शवत्त्व विशेष्यदल है]।

—: ० :—

३–परमाणु की सिद्धि—

१. विवादास्पद (प्रथम पाकज) गन्ध, इस गन्ध के समवायि-कारण से उत्पन्न होती है, क्योंकि वह गन्धस्वरूप या कार्यात्मक है, जैसे कि घटादि [वैशेषिकगण पाक-प्रक्रिया से परमाणुओं में ही अभिनव गन्धादि की उत्पत्ति मानते हैं। उस समय अवयवी द्रव्य

देतद्वत् । न च पिण्डस्यैवोपाधित्वम्, तत्समानक्षणानां रूपादीनामपि तथाभावप्रसङ्गात् ।

२. विप्रतिपन्नं कार्यम्, एतन्नीलकारणजम्, कार्यत्वात्, गृह्यमाणनीलवत् । न चानुग्राहकतर्काभावः, अन्तेऽपि स्थिरपदार्थानभ्युपगमे कार्यकारणभावानिर्वाहात्, अन्वयव्यतिरेकप्रयोजकाभावात् । कल्पनया तत्सिद्धयभ्युपगमे वस्तुनोऽसत्त्वेन तन्मूलस्य कार्यकारणभावस्यासत्त्वप्राप्तौ विश्वासत्त्वप्रसङ्गः । अर्थक्रियाकारित्वस्य सत्वात् समर्थस्य क्षेपायोगाद् इत्यादि सहकारिसदसद्भावप्रयुक्तत्वेन परिहरणीयम् ।

स्वयं असिद्ध होता है, वह गन्ध का जनक नहीं हो सकता, अतः पाकावस्था में कोई ऐसा स्थिर द्रव्य मानना आवश्यक है, जो गन्धादि को जन्म दे सके, वही नित्यसिद्धि स्थिर तत्त्व परमाणु है]। घटादि के आधारभूत मृत्पिण्ड को ही गन्ध का जनक मान लेंगे, परमाणुओं की क्या आवश्यकता ? यह सन्देह नहीं कर सकते, क्योंकि उसके समानक्षण में होने वाले रूपादि में भी तद्रूपता [गन्ध की जनकता] का सन्देह होने लगेगा।

२. विवादास्पद कार्य [परमाणुगत पाकज नीलरूप] उस नीलरूप के समवायिकारण [परमाणु] से जन्य होता है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे पटगत गृह्यमाण नीलरूप। यहाँ अनुग्राहक तर्क का अभाव है— ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कारण-परम्परा के अन्तिम [मूल] में परमाणु के समान स्थिर [नित्य] तत्त्व न मानने पर कार्य-कारणभाव का निर्वाह नहीं होगा। [आशय यह है कि कार्य-कारणभाव अन्वय-व्यतिरेक पर निर्भर है और किसी ध्रुव तत्त्व के न होने पर] अन्वय-व्यतिरेक सम्भव नहीं होता। कल्पनामात्र के आधार पर कार्यकारण-भाव की सिद्धि मानने पर मौलिक वस्तु के अभाव में तन्मूलक कार्य-कारणभाव भी असत् हो जायगा, फिर तो विश्व की सत्यता अक्षुण्ण न रह सकेगी। [परमाणु-जैसी नित्य वस्तु को मानने पर उससे एक बार कार्य उत्पन्न हो जाने पर भी पुनः-पुनः उसी प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति होती रहेगी, क्योंकि] नित्य कारण में अर्थक्रिया (प्रयोजन) के उत्पादन का सामर्थ्य सदैव विद्यमान है और उस सामर्थ्य की कुण्ठा या अवहेलना कभी सम्भव नहीं—इस प्रकार बौद्ध आक्षेपों के परिहार में यह कह देना पर्याप्त है कि कारणतत्त्व के स्थिर होने पर भी सहायक सामग्री के अभाव में उससे कार्य नहीं होगा, प्रागभावादि-घटित सामग्री का सहयोग कार्य की उत्पत्ति के लिए अनिवार्य होता है। [अतः तन्तुओं के अक्षणिक या स्थिर होने पर भी पट की प्रागभाव-सम्बन्धित सामग्री न रहने के कारण पुनः पटान्तर

सहकारिणामेव हेतुत्वमस्त्विति (चेन्न) तेषामेव चरमत्वनियमे तदुपयोगः स्यात्। अन्त्यतन्तुसंयोगादिष्वपि अवच्छेदकत्वेन तन्तूनामुपयोगात्। तेषां चानियामकत्वेऽन्यत्रापि पटोत्पत्तिप्रसङ्गः। क्रमेण कार्यकरणार्हं स्थिरं तद्विपरीतं क्षणिकमिति विप्रतिपत्तेर्विषय उद्घाटनीयः।

३. विवादाध्यासिता गन्धादयः पृथिव्यारम्भका न संभवन्ति, संयोगव्यतिरिक्तत्वे सति भूतगुणत्वाद्, विभागवत्। रस उदकारम्भको न भवति, रूपं तेजआरम्भकं न भवति, स्पर्शो वायुजनको न भवति, शब्दो द्रव्यारम्भको न भवति, भूतविशेषगुणत्वाद् बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यगुणत्वाद् वा गन्धवत्। न चात्रौपाधिकशङ्काऽप्यस्ति गन्धत्वस्य, तस्याभावेऽपि गुरुत्वादिषु साध्यस्य दर्शनात्। न च शब्द-

---

की उत्पत्ति नहीं होती]। यदि कहा जाय कि सहायक सामग्री को ही पटादि कार्य का उत्पादक मान लेना चाहिये, तन्तुओं की क्या आवश्यकता? तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उन (तन्तुओं) को ही चरमत्व [अन्तिम रूपता] प्रदान करने में सामग्री का उपयोग होता है। अन्तिम तन्तु के संयोगादि में अवच्छेदकतया [आधारतया] तन्तुओं का उपयोग होता है। तन्तुओं को [आधारता का] नियामक न मानने पर अन्यत्र भी पट की उत्पत्ति प्रसक्त होगी। क्रमशः विभिन्न कार्यों के उत्पादन में समर्थ कारण को स्थिर और उससे विपरीत को क्षणिक कहते हैं—इस प्रकार की विप्रतिपत्ति का विषय उद्घाटित करना चाहिए।

३. [बौद्धगण गन्धादि गुणों से पृथिवी आदि की उत्पत्ति मानते हैं, उनकी मान्यता को असंगत ठहराने के लिए गुणों में द्रव्य की उत्पादन-क्षमता का अभाव सिद्ध किया जाता है—] विवादास्पद गन्धादि गुण पृथिवी के उत्पादक नहीं हो सकते, क्योंकि वे संयोग से भिन्न हैं और भूतों [पृथिव्यादि द्रव्यों] के गुण होते हैं, जैसे—विभाग गुण। इसी प्रकार रस जल का, रूप तेज का, स्पर्श वायु का एवं शब्द किसी भी द्रव्य का जनक नहीं हो सकता, क्योंकि भूतों का विशेष गुण अथवा बाह्य एक-एक इन्द्रिय का ग्राह्य गुण है, जैसे—गंध। यहाँ [उक्त चारों अनुमानों में] गन्धत्व उपाधि है—ऐसी शङ्का भी नहीं कर सकते, क्योंकि उस [गन्धत्व] का अभाव रहने पर भी गुरुत्वादि में साध्य [उदकादि-जनकत्व] का अभाव देखा जाता है, अतः साध्य का व्यापक न होने के कारण गन्धत्व धर्म को उपाधि नहीं कह सकते। अन्तिम (शब्द पक्षक) अनुमान में शब्द-व्यतिरिक्तत्व एवं प्रथम (रस पक्षक) अनुमान में रस व्यतिरिक्तत्व को उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि शब्द और रस से व्यतिरिक्त (भिन्न) संयोग

(व्यतिरिक्त) त्वमुपाधि चरमस्यानुमानस्य, नापि प्रथमस्य रसव्यतिरिक्तत्वं प्रयोजकम्, तद्व्यतिरिक्तस्यापि संयोगादेरुदकारम्भकत्वदर्शनात् । एतेन मध्यमयोरुपाधिशङ्का निराकृता । अतो गन्धादिव्यतिरिक्तोपादानसिद्धिः ।

४. विवादाध्यासितं कार्यं समवायिकारणकं भावकार्यत्वाद् घटवत् । न च व्यर्थविशेषणत्वम्, कार्यत्वमात्रस्य ध्वंसादिपु व्यभिचारात् ।

५. विवादाध्यासितं कार्यं समवायिकारणकं कार्यत्वात्, महामूर्तत्वाद्वा घटवदिति केचित् । विवादाध्यासितं कार्यं महत्, समवायिकारणत्वात्, तन्तुवत् । अपरे तु बाह्याप्रत्यक्षत्वे सति समवायिकारणत्वादिति ब्रुवते । तैस्तु योगिप्रत्यक्षं

गुण में भूत-जनकत्व रहता है [भूताजनकत्वरूप साध्य नहीं रहता], अतः साध्य की समव्याप्ति न रहने के कारण शब्दव्यतिरिक्तत्व रसव्यतिरिक्तत्व को उपाधि नहीं कह सकते [उपाधि में साध्य की समव्याप्ति अपेक्षित है—यह गत ७ पृष्ठ पर कहा जा चुका है]। इसी प्रकार मध्यपाती (रूपपक्षक तथा स्पर्शपक्षक) अनुमानों में भी उपाधि की शङ्का निवृत्त कर लेनी चाहिए। फलतः गन्धादि गुणों से भिन्न परमाणुरूप द्रव्य ही भूतों के उपादान (समवायिकारण) सिद्ध होते हैं।

४. विवादास्पद (द्व्यणुकादि) कार्य, समवायिकारणवाला होता है, क्योंकि वह भाव कार्य है, जैसे—घट । हेतु में भावस्वरूप विशेषण व्यर्थ है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कार्यत्व मात्र हेतु ध्वंसादि में व्यभिचरित है, [ध्वंसादि में कार्यत्व रहने पर भी समवायिकारणवत्ता नहीं। श्रीव्योमशिवाचार्य ने तो कार्यत्व की परिभाषा परिष्कृत करके व्यभिचार हटाया है—"न च कार्यत्वमभावे व्यभिचरतीति वाच्यम्, स्वकारणसत्तासम्बन्धरूपत्वात् कार्यस्य" (व्योमवती पृ. २२४) अर्थात् यहाँ कार्यत्व का अर्थ है—स्वकारणसमवाय या स्वसत्तासमवाय। अभाव कार्य न तो किसी में समवेत होता है और न कोई सत्तादि पदार्थ उसमें समवेत होता है, अतः उसमें व्यभिचार नहीं।]

५. कुछ विद्वान् इस प्रकार अनुमान-प्रयोग करते हैं—विवादास्पद कार्य [त्रसरेणु द्व्यणुक रूप] समवायिकारणवाला है, क्योंकि वह कार्य या महामूर्त्त है, जैसे—घट । [यहाँ महामूर्त्त का अर्थ है—महत्त्वयुक्त मूर्त्त। द्व्यणुक मूर्त्त होने पर भी महान् नहीं होता, अतः त्रसरेणु से आरम्भ कर घटपर्यन्त कार्य-वर्ग को महामूर्त्त कहा जाता है। इस अनुमान से द्व्यणुक की सिद्धि विवक्षित है, उसके पश्चात् "त्रसरेणोरवयवाः सावयवा महद्द्रव्यारम्भकत्वात् तन्तुवत्" (किर. पृ. २२७) इस द्वितीय अनुमान से परमाणु की सिद्धि की जाती है। त्रसरेणु को

समधिगम्य परमाणुष्वनैकान्तिकत्वपरिहारार्थमस्मदादीति विशेषणीयम्। तथा च व्यर्थविशेषणत्वम्, प्रतिवादिनो व्यावृत्त्यभावात्, मनसि व्यभिचारश्च। तस्मात् त्र्यणुकपरमाणुसिद्धिः। कार्यद्रव्याजन्यं मूर्त्तमणु। नित्यो मूर्त्तः परमाणुः।

सिद्धि के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है—] विवादास्पद कार्य (त्रसरेणु) महत्परिमाणवाला होता है, क्योंकि वह समवायिकारण होता है, जैसे—तन्तु। अन्य आचार्य बाह्यप्रत्यक्षत्वे सति समवायिकारणत्वात्—इस प्रकार का हेतु-प्रयोग उक्त अनुमान में किया करते हैं। वे योगि-प्रत्यक्ष को भी प्रमाण मानते हैं, अतः परमाणुओं में [योगियों के प्रत्यक्ष की विषयता एवं समवायिकारणता रह जाने पर भी महत्त्व परिमाणरूप साध्य के न रहने से] व्यभिचार हो जाता है। उसकी निवृत्ति के लिए प्रत्यक्ष का 'अस्मदादि'—यह विशेषण देना होगा [जैसा कि श्रीउदयनाचार्य ने कहा है—विवादाध्यासितस्त्रसरेणुर्महान्, अस्मदादिचाक्षुष-द्रव्यत्वात्" (किर. पृ. २२४)]। 'अस्मदादि'—विशेषण योगि-प्रत्यक्ष को प्रमाण न माननेवाले प्रतिवादी के लिए व्यर्थ है। उसके मत में "अस्मदादि' विशेषण से किस की व्यावृत्ति होगी? मन में व्यभिचार भी है [क्योंकि मन में अलौकिक प्रत्यक्ष की विषयता और समवायि-कारणता के रहने पर भी महत्परिमाण नहीं रहता]। इस प्रकार त्र्यणुक (त्रसरेणु) और परमाणु की सिद्धि हो जाती है। कार्यद्रव्य से अजन्य मूर्त्तद्रव्य को अणु और नित्यमूर्त्तद्रव्य को परमाणु कहते हैं।

(२

द्रव्यप्रकरणम्

१–पृथिव्या निरूपणम्—

१. विवादाध्यासितं पृथिवीसमवायिकारणकम्, कार्यत्वे सति गन्धवत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत्। न च सोपाधिकत्वं स्यात्, महापृथिवीत्वस्य रूपादौ साध्याव्यापकत्वात्। नित्यमूर्त्तारम्भ्यातिरिक्तत्वे सति कार्यत्वस्योदकादिष्वपि सम्भवात्। पार्थिवत्वेन विशेषणे विशेष्यवैयर्थ्यात्। निरुपाधिकस्य साध्यपरित्यागे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात्। तस्मात् पार्थिवेन परमाणुना पार्थिवमेवारभ्यते इति नियमः। नित्यत्वे सति गन्धवान् पार्थिवः परमाणुरिति पार्थिवपरमाणुलक्षणम्।

(२)

द्रव्य-प्रकरण

१–पृथिवी का निरूपण—

१. [पृथिवी तत्त्व की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है—] विवादास्पद [गो घटादि] कार्य पृथिवीरूप समवायिकारणवाले होते हैं, क्योंकि वे कार्य हैं और गन्धवाले हैं, जैसे—उभयवादि-सम्मत पटादि वस्तु। उक्त हेतु सोपाधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि महापृथिवीत्व धर्म रूपादि में साध्याव्यापक है, [रूपादि पदार्थ पृथिवी-समवायिकारणक होने पर भी महापृथिवीरूप नहीं होते, अतः साध्य का समव्याप्त धर्म न होने के कारण महापृथिवीत्व उपाधि नहीं हो सकता]। नित्यमूर्त्तद्रव्यारभ्यत्व-रहितत्व धर्म जलादि में भी रहता है, [किन्तु वहाँ पृथिवी-समवायिकारणकत्वरूप साध्य नहीं रहता, अतः साध्य का समव्याप्त न होने के कारण उक्त धर्म को भी उपाधि नहीं कह सकते]। उक्त धर्म में पार्थिवत्व विशेषण लगाने पर विशेष्य दल [नित्यमूर्तारभ्य-भिन्न कार्यत्व] व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि पार्थिवत्व मात्र से ही पृथिवीसमवायिकारणकत्वरूप साध्य की सिद्धि हो जाती है]। निरुपाधिक हेतु स्वभावतः साध्य से व्याप्त होता है, यदि उसको भी साध्य-परित्यागी या साध्य-व्यभिचारी माना जाय, तब वस्तु के स्वभाव का भी परित्याग मानना होगा [जो कि नितान्त असङ्गत है, क्योंकि जैसे—अग्नि और जलादि अपने स्वभाव का त्याग कभी नहीं किया करते, वैसे ही सद्धेतु भी अपने साध्य का परित्याग नहीं किया करता]। अतः पार्थिव परमाणु के द्वारा पार्थिव द्रव्य ही उत्पादित होता है—यह नियम अक्षुण्ण है। जो नित्य और गन्धवान् हो, उसे पार्थिव परमाणु कहते हैं।

२. देवशरीरमयोनिजं न भवति, शरीरत्वादित्यनैकान्तिकं शलभादिशरीरे। विशिष्टसंस्थानवत्त्वमपि तस्यासिद्धम्, त्रिनयनसहस्राक्षचतुर्भुजादिभेदभिन्नत्वात्। विवादाध्यासितः शरीरसन्तानोऽयोनिजशरीरकः, शरीरसन्तानत्वाद्, गोमयजनितवृश्चिकशरीरसन्तानवत्। न चानुकूलतर्कचिन्ता कार्या, अन्यथागमार्थस्यैवानुपपत्तिप्रसङ्गात्। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" (ऋ. सं. १०।१२१।१) इति श्रुतेः। गन्धवच्छरीरं पार्थिवम्।

३. गन्धोपलब्धिः करणजन्या, कार्यत्वाद्, घटवत्। विवादाध्यासितं पार्थिवम्, गन्धरसयोर्मध्ये गन्धस्यैव प्रकाशकत्वात्, कुंकुमगन्धाभिव्यञ्जकघृतवत्।

---

२. पार्थिव शरीर का विभाजन करते हुए भाष्यकार श्री प्रशस्तपाद ने कहा है—'तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च। तत्रायोनिजम्—अनपेक्ष्यशुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते।' मानमनोहरकार अयोनिजशरीर के विषय में शङ्का-समाधान करते हैं—देवताओं के शरीर अयोनिज नहीं होते, क्योंकि वे भी शरीर हैं—इस अनुमान का शरीरत्व हेतु शलभ (पतिङ्गे) आदि के शरीरों में व्यभिचरित है, [क्योंकि उनमें योनिजत्व न होने पर भी शरीरत्व रहता है। किन्तु श्रीव्योमशिवाचार्य ने उक्त अनुमान को आगम से बाधित बताया है—देवर्षिशरीराणि योनिजानि शरीरत्वादस्मदादिशरीरवत्—एतच्चागमेन बाध्यमानत्वादप्रमाणम्' (व्योमवती पृ. २३०)। आगम प्रमाण पहले ही दिखाया है—'अयोनिजशरीराणि भवन्त्यङ्कुतकर्मणाम्']। कोई एक विशिष्ट आकारवत्ता भी देव-शरीर में असिद्ध है; क्योंकि त्रिनेत्र, सहस्रनेत्र, चतुर्भुज आदि विभिन्न आकार प्रसिद्ध हैं। विवादास्पद शरीर-प्रवाह अयोनिजशरीर-घटित होता है, क्योंकि वह भी वैसा ही शरीर-प्रवाह है, जैसा—गोबर से उत्पन्न बिच्छू का शरीर-प्रवाह। इस अनुमान में अनुकूल तर्क की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, नहीं तो आगमार्थ में भी अनुपपत्ति का सन्देह होने लगेगा। हिरण्यगर्भादि के शरीर वेद-विश्रुत हैं—'जगत् की सृष्टि होने के पूर्व एकमात्र भूतपति हिरण्यगर्भ की रचना हुई।' पार्थिव शरीर का लक्षण होता है—गन्धवत् शरीरम्।

३. गन्ध का प्रत्यक्ष, करण (इन्द्रिय) से होता है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे—घट। इस प्रकार सिद्ध गन्ध-ग्राहक इन्द्रिय में पार्थिवत्व सिद्ध करते हैं—] विवादास्पद (घ्राण इन्द्रिय) पार्थिव है, क्योंकि वह गन्ध और रस के मध्य में केवल गन्ध का ही प्रकाशक है, जैसे—केसर की सुगन्धि का व्यञ्जक (प्रकाशक) घृत। घ्राण का लक्षण है—गन्धवदिन्द्रियम्। पृथिवी का लक्षण होता है—गन्धवत्त्वम्।

गन्धवदिन्द्रियं घ्राणम्। गन्धवती पृथिवी। रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाण-पृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्कारवती पृथिवी।

—:०:—

२–उदकस्य निरूपणम्—

१. उदकत्वसामान्यं शरीरसमवेतं परमाणुजातित्वात्, सत्तावत्। विप्रतिपन्नाः परमाणवः परम्परया शरीरारम्भकाः, गुरुपरमाणुत्वात्। न च पार्थिवपरमाणुत्वमुपाधिः, तदभावेऽपि साध्यस्यानुगमदर्शनेन द्व्यणुकादिषु समव्याप्तिकत्वाभावात्। अदृष्टविशेषाकृष्टत्वमेव तत्रापि प्रयोजकमित्यन्ये। तच्च पूर्वानुमानेन साधयितुं शक्यते इति न कश्चिद् दोषः। शीतस्पर्शवच्छरीर-माप्यम्।

---

(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमाण, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) द्रवत्व, तथा (१४) संस्कार—इन चौदह गुणोंवाली पृथिवी होती है।

—:०:—

२–जल का निरूपण—

१. [जलीय शरीर सिद्ध किया जाता है—] उदकत्व जाति शरीर में समवेत होती है, क्योंकि वह परमाणु में रहती है। [परमाणु-वृत्ति जाति कार्य में अनुस्यूत मानी जाती है। अतः उदकत्व जाति से युक्त शरीर जलीय सिद्ध होता है]। परमाणु द्व्यणुकादि-परम्परा से शरीर के आरम्भक होते हैं, क्योंकि वे गुरुत्वगुणवाले परमाणु हैं, जैसे—पार्थिव परमाणु। [भाष्यकार ने कहा है—'शरीरमयोनिजमेव वरुणलोके पार्थिवो-पष्टम्भादुपभोगसमर्थम्' (प्र. भा. पृ. १४) अन्य परमाणुओं का सहयोग होने पर भी समवायिकारणता सभी में नहीं होती, श्रीव्योमशिवाचार्य ने कहा है—'आप्या अवयवाः समवायिकारणम्, तत्संयोगाश्चासमवायि-कारणम्, पार्थिवावयवाश्च निमित्तकारणमिति' (व्यो. व. पृ. २४४)]. उक्त अनुमान में पार्थिव परमाणुत्व को उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि पार्थिव परमाणुत्व का अभाव रहने पर भी द्व्यणुकादि में साध्य का अनुगम देखा जाता है, अतः साध्य का समव्याप्त न होने के कारण उसे उपाधि नहीं कह सकते। [साध्यसमव्याप्त धर्म ही उपाधि होता है—यह पहले ही कहा जा चुका है]। अदृष्टविशेषाकृष्टत्व को पार्थिवादि-सहयोग में प्रयोजक माना जाता है। उसकी सिद्धि तो पूर्वानुमान से की जा सकती है, अतः उक्त अनुमान में कोई दोष नहीं। जलीय शरीर का लक्षण होता है—शीतस्पर्शवच्छरीरम्।

२. रसोपलब्धिः करणजन्या, कार्यत्वाद् गन्धोपलब्धिवत् । रसनमाप्यम्, रूपरसयोर्मध्ये रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् लालावत् । शीतस्पर्शवदिन्द्रियं रसनम् । स्नेहवद् द्रव्यमुदकम् । रूपरसस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारवदुदकम् ।

—: ० :—

३–तेजसो निरूपणम्—

१. विवादाध्यासिताः परमाणवः परम्परया शरीरारम्भकाः, रूपिपरमाणुत्वात्, पार्थिवपरमाणुवत् । न चापार्थिवपरमाणुत्वादित्यनेन मनःपरमाणुवत् प्रकरणसमत्वम्, 'सोऽग्नेर्देवयोन्या आहुतिभ्यः सम्भूय हिरण्यशरीर ऊर्ध्वं स्वर्गलोकमेतीत्यागमबाधात् । न च विशिष्टादृष्टाकृष्टत्वमुपाधिः साधनव्यापकत्वात् । उष्णस्पर्शवच्छरीरं तैजसम् ।

---

२. [जलीय इन्द्रिय का अनुमान किया जाता है—] रस की उपलब्धि (प्रत्यक्ष ज्ञान) किसी करण से जनित होती है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे—गन्ध की उपलब्धि [इस प्रकार जो करण सिद्ध होता है, वही रसना है और वह जलीय है—यह सिद्ध किया जाता है—] रसना इन्द्रिय जलीय है, क्योंकि रूप और रस के मध्य में रस की ही व्यञ्जिका होती है, जैसे—लाला (मुख की लार)। रसना इन्द्रिय का लक्षण होता है—शीतस्पर्शवदिन्द्रियम्। उदक का लक्षण होता है—स्नेहवद् द्रव्यम्। उदक में भी चौदह गुण होते हैं—(१) रूप, (२) रस, (३) स्पर्श, (४) संख्या, (५) परिमाण (६) पृथक्त्व (७) संयोग (८) विभाग, (९) परत्व (१०) अपरत्व (११) गुरुत्व (१२) द्रवत्व, (१३) स्नेह और (१४) संस्कार।

—: ० :—

३–तेज का निरूपण—

१. विवादास्पद तैजस परमाणु द्व्यणुकादि-प्रणाली से शरीर के आरम्भक होते हैं, क्योंकि वे रूपवाले परमाणु हैं, जैसे कि पार्थिव परमाणु। "तैजसाः परमाणवो न शरीरारम्भकाः, अपार्थिवपरमाणुत्वात् मनोवत्"—इस प्रकार के विरोधी अनुमान के द्वारा पूर्व अनुमान का सत्प्रतिपक्ष नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, क्योंकि "सोऽग्नेर्देवयोन्या आहुतिभ्यः सम्भूय हिरण्यशरीरः ऊर्ध्वं स्वर्गलोकमेति" (ऐ. ब्रा. २।३।१४) इस आगम प्रमाण के द्वारा विरोधी अनुमान बाधित हो जाता है। विशिष्टादृष्टाकृष्टत्व धर्म को उक्त प्रथम अनुमान में उपाधि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह साधन का भी व्यापक है। तैजस शरीर का लक्षण होता है—उष्णस्पर्शवत् शरीरम् ।

२. रूपोपलब्धिः करणजन्या, कार्यत्वात् । चक्षुः तैजसम्, रूपरसयोर्मध्ये रूपस्यैव व्यञ्जकत्वाद् आलोकवत् । उष्णमिन्द्रियं तैजसम् ।

३. विवादाध्यासिताः परमाणवो न पार्थिवाः, अत्यन्ताग्निसंयोगे भस्मानारम्भकत्वात्, जलपरमाणुवत् । विवादाध्यासितं तैजसम्, अशीतत्वे सति अपाकजरूपाधारपरमाणुजन्यद्रव्यत्वात्, सम्प्रतिपन्नाग्निवत् । उष्णस्पर्शवत् तेजः । रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत् तेजः ॥ इति च तेजः ॥ छ ॥

—: ० :—

४–वायोर्निरूपणम्—

१. विवदाध्यासिताः (वायवीयाः) परमाणवः परम्परया शरीरारम्भकाः, स्पर्शवत्परमाणुत्वात्:, सम्प्रतिपन्नपरमाणुवत् । अरूपं शरीरं वायवीयम्, मूर्तत्वे सति त्वगिन्द्रियान्यत्वे च सति व्याप्त्या त्वगिन्द्रियसंयोगाधारः शरीरम् ।

---

२. रूप की उपलब्धि करण-जन्य होती है, क्योंकि वह कार्य है [इस अनुमान से चक्षु की सिद्धि करके उसमें तैजसत्व का अनुमान करते हैं—] चक्षु इन्द्रिय तैजस है, क्योंकि रूप और रस के मध्य में वह केवल रूप की अभिव्यञ्जिका होती है, जैसे—आलोक। तैजस इन्द्रिय का लक्षण होता है—उष्णमिन्द्रियम् ।

३. [सुवर्ण में तैजसत्व की स्थापना करने के लिये उसके परमाणुओं को अपार्थिव सिद्ध किया जाता है—] विवादास्पद (सुवर्ण के) परमाणु पार्थिव नहीं होते, क्योंकि अग्नि के साथ साक्षात् सम्बन्ध होने पर भी वे भस्मसात् नहीं होते, जैसे—जलीय परमाणु । विवादास्पद (सुवर्ण–पिण्ड) तैजस होता है, क्योंकि शीत स्पर्श से रहित है एवं अपाकज रूप के आधारभूत परमाणुओं से जायमान द्रव्य है, जैसे—सर्व-सम्मत अग्नि । तेज का लक्षण होता है—उष्णस्पर्शवद् द्रव्यम् । तेज में ग्यारह गुण होते हैं— (१) रूप, (२) स्पर्श, (३) संख्या, (४) परिमाण, (५) पृथक्त्व, (६) संयोग, (७) विभाग, (८) परत्व, (९) अपरत्व, (१०) द्रवत्व, और (११) संस्कार ।

—: ० :—

४–वायु का निरूपण—

१. विवादास्पद वायवीय परमाणु द्व्यणुकादि क्रम से शरीर के आरम्भ होते हैं, क्योंकि स्पर्शवाले परमाणु हैं, जैसे—सर्वसम्मत पार्थिव परमाणु । वायवीय शरीर का लक्षण होता है—अरूपं शरीरम् । जो मूर्त द्रव्य हो और त्वगिन्द्रिय से भिन्न त्वगिन्द्रिय के व्याप्यवृत्ति संयोग का आधार हो, उसे सामान्य शरीर कहते हैं ।

२. स्पर्शोपलब्धिः करणजन्या, कार्यत्वाद् रूपोपलब्धिवत्। स्पर्शनं वायवीयम्, रूपस्पर्शयोर्मध्ये स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकद्रव्यत्वाद्, व्यजनानिलवत्। अरूपावयवीन्द्रियं स्पर्शनम्। पूर्वेष्वत्र च शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोऽवयवी विषय इत्यवगन्तव्यम्।

३. वायुरस्मदादिप्रत्यक्षविषयो न भवति, वायुत्वात् परमाणुवायुवत्। न च परमाणुत्वमुपाधिः, वायुद्व्यणुकादिषु साध्यस्याननुगमदर्शनात्। वायुरस्मदादिप्रत्यक्षविषयो न भवति, अरूपिद्रव्यत्वाद् आकाशवत्। न चास्पर्शवद्द्रव्यत्वमुपाधिः, साध्याव्यापकत्वात् तत्रैवाभावात्। न चोद्भूतस्पर्शाभावो महत्त्वे

---

२. स्पर्श की उपलब्धि करण-जन्य होती है, क्योंकि कार्य है, जैसे—रूप की उपलब्धि [इस अनुमान के द्वारा साधित त्वगिन्द्रिय में वायवीयत्व सिद्ध किया जाता है—] स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय) वायवीय होती है, क्योंकि रूप और स्पर्श के मध्य में केवल स्पर्श की व्यञ्जिका होती है, जैसे पंखे की वायु। रूप-रहित अवयववान् इन्द्रिय को त्वगिन्द्रिय कहते हैं। पूर्वोक्त (पृथिवी, जल, तेज) तथा यहाँ (वायु के प्रकरण में) शरीर और इन्द्रिय से भिन्न अवयवी द्रव्य को विषय समझ लेना चाहिए।

३. [वायु की अप्रत्यक्षता सिद्ध की जाती है—] महावायु हम (साधारण जीव) लोगों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, क्योंकि वायु है, जैसे—परमाणुस्वरूप वायु। यहां परमाणुत्व [अप्रत्यक्षत्व का व्यापक और महावायु में परमाणुत्व न होने से साधन का अव्यापक है, अतः] उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वायवीय द्व्यणुकादि में [अप्रत्यक्षत्वरूप साध्य के रहने पर भी परमाणुत्व नहीं रहता, अतः] साध्य का व्यापक नहीं। वायु हमलोगों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं, क्योंकि रूप-रहित है, जैसे—आकाश [इस द्वितीय अनुमान के द्वारा निर्विवाद रूप से अप्रत्यक्षत्व सिद्ध हो जाता है।] यहाँ स्पर्श-रहित द्रव्यत्व [आकाश में साध्य का व्यापक और वायु में साधन का अव्यापक होने से] उपाधि है—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वायु के द्व्यणुक में [अप्रत्यक्षत्वरूप साध्य के रहने पर भी] स्पर्श-रहित द्रव्यत्व नहीं रहता, अतः साध्य का व्यापक नहीं। महत्त्व-युक्त स्पर्श-रहित द्रव्यत्व भी वायवीय द्व्यणुक में नहीं रहता, अतः साध्य का अव्यापक है; उपाधि नहीं हो सकता। उद्भूतस्पर्शाभाव-विशिष्ट महत्त्व को भी साध्य का प्रयोजक (उपाधि)

सति प्रयोजकः, वारिस्थिते तेजसि अभावात् । न च तस्यापि प्रत्यक्षत्वम्—उष्णं जलमिति विभ्रमानुपपत्तेः ।

४. स्पर्शनं नीरूपद्रव्यग्राहकं न भवति, बाह्येन्द्रियत्वात् चक्षुर्वत् । न च वायुरस्मदादिप्रत्यक्षः, अनुद्भूतरूपानधिकरणत्वे सति उद्भूतस्पर्शाधिकरणत्वाद् घटवद्—इति साम्प्रतम्, परमाणौ व्यभिचारात् । न च महत्त्वे सतीति विशेषणीयम्, प्रत्यक्षसामग्रीसद्भावस्योपाधेः । सा चानुविचार्यमाणा उद्भूतरूपस्पर्शमहत्त्वान्नातिरिच्यते । तस्यापि साधनेऽपसिद्धान्तः । तथा नास्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षो वायुः, अस्मदाद्यप्रत्यक्षसंख्याधिकरणत्वान्नभोवत् । अन्यथा तस्यापि बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, उभयोरपि समानसामग्रीग्राह्यत्वादिति ।

नहीं मान सकते, क्योंकि जलस्थ तेज में वह नहीं रहता, अतः साध्य का व्यापक नहीं। जलस्थ अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि उष्णं जलम्–इस ज्ञान को सभी भ्रम मानते हैं, प्रत्यक्ष प्रमा नहीं।

४. [त्वगिन्द्रिय में वायु के प्रत्यक्ष की क्षमता नहीं—यह सिद्ध किया जाता है—] स्पर्शन (त्वगिन्द्रिय) रूप-रहित द्रव्य का ग्राहक नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य इन्द्रिय है, जैसे—चक्षु। 'वायु हमलोगों के प्रत्यक्ष का विषय होता है, क्योंकि अनुद्भूत रूप का अनधिकरण तथा उद्भूतस्पर्श का आधार है, जैसे घट'—यह अनुमान निर्दुष्ट नहीं, क्योंकि परमाणु में व्यभिचारी है। महत्त्व विशेषण लगाने पर भी प्रत्यक्ष-सामग्री का सद्भाव उपाधि है, अर्थात् वायु में महत्त्व-युक्त उद्भूतस्पर्श और अनुद्भूतरूप का अभाव—यह प्रत्यक्ष की सामग्री है। इसके रहने से अनुमान नहीं किया जा सकता। [इसी प्रकार श्रीव्योमशिवाचार्य ने भी उक्त अनुमान दिखाकर निरस्त किया है—"अस्मदाद्युपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानो वायुः, अस्मदादित्वगिन्द्रियप्रत्यक्षः, अनुद्भूतरूपान्यत्वे सति अस्मदाद्युपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानत्वाद्, यथा घटः। तच्चासत्, प्रतीतेः समर्थितत्वात्" (व्यो. व. पृ. २७४)]। वायु में उद्भूतरूपादि-घटित प्रत्यक्ष-सामग्री की कल्पना करने पर अपसिद्धान्त दोष होता है [क्योंकि वायु में उद्भूतरूप एवं प्रत्यक्ष-विषयता मानना वैशेषिक सिद्धान्त नहीं। सूत्रकार ने "स्पर्शश्च वायोः" (वै. सू. २।१।९) इस सूत्र में स्पर्श लिङ्ग द्वारा वायु का अनुमान ही माना है। भाष्यकार ने कहा है—"स्पर्शशब्दधृतिकम्पलिङ्गः"] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वायु हमलोगों की बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि हमलोगों की अप्रत्यक्ष संख्या का आधार है, जैसे—आकाश। नहीं तो आकाश का भी बाह्य इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष मानना होगा, क्योंकि वायु और आकाश

नीरूपः स्पर्शवान् वायुः । स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्व-संस्कारवान् वायुः ॥ छ ॥

—: ० :—

५–आकाशस्य निरूपणम्—

१. विवादाध्यासिता शब्दोपलब्धिः करणजन्या कार्यत्वाद् रूपोपलब्धिवत् । तच्चेन्द्रियं बाह्यं बाह्यार्थप्रकाशकत्वात् चक्षुर्वत् । शब्दः क्वचिदाश्रितः, गुणत्वाद् रूपवत् । शब्दाश्रय इतरेभ्यो भिद्यते, शब्दाश्रयत्वाद् व्यतिरेकेण रूपवत् ।

२. अन्ये तु शब्दोऽष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितः, तद्वृत्तौ बाधकोपपत्तौ गुणत्वाद् व्यतिरेकेण रूपवदिति ब्रुवते । तदसत्, व्याप्त्यसिद्धेः । व्यतिरेकस्याभावरूपत्वेन प्रतियोगिसाध्यज्ञानाधीनज्ञानत्वात्, तज्ज्ञानेऽनुमानवैयर्थ्यात् ।

दोनों समान सामग्री के द्वारा ग्राह्य होते हैं। वायु का लक्षण है—नीरूपः स्पर्शवान्। वायु में नौ गुण होते हैं—(१) स्पर्श, (२) संख्या, (३) परिमाण, (४) पृथक्त्व, (५) संयोग, (६) विभाग, (७) परत्व (८) अपरत्व तथा (९) संस्कार।

—: ० :—

५–आकाश का निरूपण—

१. विवादास्पद शब्दोपलब्धि करण-जन्य होती है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे—रूप की उपलब्धि। इस अनुमान के द्वारा साधित इन्द्रिय बाह्य होती है, क्योंकि शब्दरूप बाह्य पदार्थ की प्रकाशिका है, जैसे—चक्षु। श्रोत्ररूप बाह्य इन्द्रिय के द्वारा गृहीत शब्द किसी-न-किसी द्रव्य के आश्रित होता है, क्योंकि वह गुण है, जैसे—रूप। शब्द का आश्रय (आकाश) इतर (अपने से भिन्न) पदार्थों से भिन्न होता है, क्योंकि वह शब्द का आश्रय है, जो इतर-भिन्न नहीं होता, वह शब्द का आश्रय भी नहीं होता, जैसे—रूप। [इस प्रकार आकाश की शब्दाश्रयत्वरूप लक्षण के द्वारा व्यावृत्ति या इतरभेद सिद्ध किया गया, क्योंकि लक्षण के द्वारा लक्ष्य की व्यावृत्ति या व्यवहार ही सिद्ध किया जाता है।]

२. अन्य (व्योमशिवाचार्यादि) विद्वान् आकाश की सिद्धि के लिए इस प्रकार अनुमान-प्रयोग किया करते हैं—शब्द (पृथिव्यादि) आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य के आश्रित है, क्योंकि उक्त आठ द्रव्यों में शब्द की वृत्तिता बाधित है और वह गुण है, जो उन आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य के आश्रित नहीं होता, उस गुण की वृत्तिता उन आठ द्रव्यों में बाधित भी नहीं होती, जैसे—रूप। [श्रीव्योमशिवा-

न च सर्वाविनाभावानापुच्छेदः, यत्र व्यतिरेकस्य भावरूपत्वं तत्रैतद्दोषस्याभावात् । आकाशगतमहत्त्वसपक्षस्यापि सम्भवात् न केवलव्यतिरेकित्वम् । साध्येऽष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रितत्वमात्रप्रयोगे असाधारणत्वम्, रूपत्वादिसामान्यानामपि सपक्षत्वात् तेभ्यो हेतोर्व्यावृत्तेः ।

३. विप्रतिपन्नमचाक्षुषम्, अरूपिद्रव्यत्वात्, सर्वगतत्वात्, सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात्, नित्येन्द्रियत्वाद् आत्मवत् मनोवच्च । आकाशमरूपम्, महत्त्वे सति रूपाजनकत्वात्, नित्यमहत्त्वात्, सर्वदास्पर्शरहितद्रव्यत्वाद् वायुवद् आत्मवच्च । विप्रतिपन्नं मूर्तमनेन संयुक्तं मूर्तत्वात् सम्प्रतिपन्नवत् अनेनेति विप्रतिपन्नविषयाभिप्रायेण ।

चार्य ने ऐसा ही अनुमान-प्रयोग किया है—"शब्दः पृथिव्युदकज्वलनपवनदिक्कालात्ममनोव्यतिरिक्तद्रव्याश्रयः, तद्वृत्तिबाधकप्रमाणसद्भावे सति गुणत्वात् । यस्तु तद्व्यतिरिक्तद्रव्याश्रयो न भवति, न चासौ तद्वृत्तिबाधकप्रमाणसद्भावे सति गुणः, यथा रूपादिः" (व्यो. व. पृ. ३२९)] । किन्तु उक्त अनुमान संगत नहीं, क्योंकि वहां साध्य और साधन की व्याप्ति ही सिद्ध नहीं होती । साध्य के व्यतिरेक का अर्थ होता है—साध्य का अभाव, जिसका ज्ञान अपने प्रतियोगी (साध्य) के ज्ञान के अधीन होता है, उसके लिए साध्य का ज्ञान पहले ही करना होगा, उसका ज्ञान हो जाने पर अनुमान व्यर्थ है । इस प्रकार सर्वत्र व्यतिरेक व्याप्ति का उच्छेद ही हो जायगा—ऐसी शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि जहाँ व्यतिरेक भावरूप होता है, वहाँ यह दोष नहीं होता । आकाशगत महत्त्व गुण को सपक्ष बनाकर अन्वयी अनुमान भी हो सकता है, केवल व्यतिरेकी अनिवार्य नहीं । साध्य में अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्व विशेषण लगाने पर असाधारण अनैकान्तिक दोष भी होता है, क्योंकि रूपत्वादि सामान्य भी सपक्ष हो सकते हैं, उक्त हेतु उनसे भी व्यावृत्त है ।

३. विवादास्पद (श्रोत्र इन्द्रिय) अचाक्षुप होता है, क्योंकि अरूपी द्रव्य है, सर्वगत है, सर्वदा स्पर्श-रहित द्रव्य है, अथवा नित्य इन्द्रिय है, जैसे—आत्मा या मन । [उक्त अनुमान में प्रयुक्त अरूपिद्रव्यतारूप हेतु की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रयोग करते हैं,] आकाश रूपरहित द्रव्य है, क्योंकि महत्त्व-गुण युक्त होकर रूप का जनक है, नित्य महान् है, सर्वदा स्पर्श-रहित द्रव्य है, जैसे कि—वायु या आत्मा । [आकाश में सर्वगतत्व सिद्ध करने के लिए अनुमान किया जाता है] विवादास्पद (पृथिव्यादि) मूर्त द्रव्य, इस (आकाश) से संयुक्त

४. आकाशं परिमाणवत् संयोगित्वाद् घटवत्। न च क्रियावत्त्वमुपाधिः, अनुत्पन्नक्रियस्यापि कस्यचिन्नाशात्। तस्य तदाधारत्वयोग्यतां विहाय न किञ्चिदन्यद् असर्वगतत्वादतिरिच्यते, तच्च परिमाणविशेषः। न च स्वात्मनि स्वस्योपाधित्वं, तदतिरिक्तसाध्याकारानभ्युपगमात्। असर्वगतत्वस्य रूपादिष्वपि सम्भवात्। द्रव्यत्वेन विशेषणे विशेष्यवैयर्थ्यात्। स्पर्शवत्त्वस्य प्रयोजकत्वे मनसोऽपरिमाणत्वप्रसङ्गः, मनसि च तदभावात्। तच्चाण्विति वक्ष्यामः। आकाशमपरिमितम्, अक्रियत्वाद् रूपवदिति—अत्राद्रव्यत्वमुपाधिः।

होते हैं, क्योंकि वे मूर्त द्रव्य हैं, जैसे—सर्वमूर्त द्रव्य आत्मादि से संयुक्त होते हैं। यहाँ 'अनेन' शब्द का प्रयोग विवादास्पद आकाश वस्तु का परामर्श करने के लिए किया गया है।

४. आकाश में महत्त्वरूप विशेष परिमाण सिद्ध करने से पूर्व परिमाण सामान्य की सिद्धि अपेक्षित है, इसके लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है—] आकाश परिमाणवान् होता है, क्योंकि संयोगी है, जैसे—घट। इस अनुमान में क्रियावत्त्व धर्म उपाधि है, [क्योंकि घटादि में परिमाणरूप साध्य का व्यापक है और आकाश में संयोगित्व साधन का अव्यापक है]—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा भी परिमाण वाला घटादि पदार्थ सम्भव है, जो कि क्रिया की उत्पत्ति से पूर्व नष्ट हो जाता है, उसमें साध्य रहने पर भी क्रियावत्त्व धर्म न रहने के कारण साध्य का व्यापक नहीं हो सकता. अतः क्रियावत्त्व का अर्थ क्रियाधारता-योग्यत्व ही करना होगा, जो कि असर्वगतत्व धर्म से भिन्न कुछ भी नहीं कहा जा सकता और वह (असर्वगतत्व) एक परिमाण विशेष है। कोई भी धर्म अपने में उपाधि नहीं माना जाता। यहाँ साध्य भी परिमाण ही है, इस प्रकार परिमाण में परिमाण को उपाधि नहीं माना जा सकता। असर्वगतत्व धर्म रूपादि गुणों में भी विद्यमान है, किन्तु वहां साध्य रूप परिमाण नहीं, इस प्रकार साध्य का अव्यापक होने के कारण भी असर्वगतत्व धर्म उपाधि नहीं हो सकता। द्रव्यत्व विशेषण लगाकर द्रव्यत्वे सति असर्वगतत्व को उपाधि घोषित करने पर विशेष्य दल व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि परिमाण रूप साध्य का प्रयोजक केवल द्रव्यत्व ही होता है, द्रव्यत्वे सति असर्वगतत्त्व नहीं। स्पर्शवत्त्व धर्म को परिमाण का प्रयोजक (साधक) मानने पर मन में परिमाण की सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि मन में स्पर्शवत्त्व का अभाव है। किन्तु मन को अणुपरिमाण वाला माना जाता है, यह कहा जायगा। 'आकाश परिमाण-रहित होता है, क्रिया-रहित होने के कारण, रूप के समान'—इस प्रकार के अनुमान

५. आकाशं संयोगि विभागि च द्रव्यत्वाद् घटवत् । न च सावयत्वमुपाधिः, तस्य मदुक्तहेतुगर्भितत्वाद्–द्रव्यत्वे सति आरभ्यत्वस्य तत्त्वात् । सर्वगतेन्द्रियमाकाशं तदेव श्रोत्रम् । न चैवं सर्वत्र शब्दोपलम्भः, वक्तृश्रोतृशरीरसन्निधितरतमभावस्यापि प्रयोजकत्वात् । अदृष्टविशेषस्य वा, अन्यथा बधिरस्यापि शब्दोपलब्धिप्रसङ्गः, तस्यापि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशस्य विद्यमानत्वात् । उपाधिभेदाच्च भेद इत्यनर्थबीजम्, आत्मान्तःकरणादीनामपि तथाभावे विरोधाभावात् । शब्दवदाकाशम् । शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागवत् ।

—: ० :—

में अद्रव्यत्व उपाधि है [क्योंकि अपरिमाणत्वरूप साध्य का अद्रव्यत्व व्यापक है और आकाश रूप पक्ष में अक्रियत्व रूप साधन का अव्यापक है]।

५. ['आकाशं परिमाणवत् संयोगित्वात्'—इस अनुमान में प्रयुक्त संयोगित्व हेतु की सिद्धि के लिए आकाश में संयोग और विभाग सिद्ध किए जाते हैं—] आकाश संयोग और विभाग वाला होता है, द्रव्य होने के कारण, घट के समान। इस अनुमान में सावयवत्व उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि द्रव्यत्व-युक्त आरभ्यत्व को सावयवत्व कहा जाता है, जो कि उक्त अनुमान में प्रयुक्त द्रव्यत्व हेतु से घटित होता है, उसमें संयोगादि साध्य की व्यापकता बाधित है। पूर्वोक्त अनुमानों के द्वारा जो सर्वगत इन्द्रिय सिद्ध होता है, उसे ही श्रोत्र कहा करते हैं। यदि श्रोत्रेन्द्रिय व्यापक है, तब सर्वत्र शब्द की उपलब्धि होनी चाहिए—यह आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि शब्दोपलब्धि के लिए शब्द के साथ वक्ता और श्रोता के सन्निधान का तारतम्य भी अपेक्षित होता है। अदृष्टविशेष को भी शब्दोपलब्धि का प्रयोजक मानना पड़ता है, नहीं तो बधिर व्यक्ति को भी शब्द का साक्षात्कार होना चाहिए, क्योंकि बधिर व्यक्ति के शरीर में भी कर्णशष्कुलि की परिधि में अवगुण्ठित आकाश विद्यमान । कर्णशष्कुलि रूप उपाधि के भेद से श्रोत्र का भेद मानना अनर्थ का बीज सिद्ध होगा। आत्मा का अन्तःकरणादि उपाधि के भेद से भेद मानने में किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता। [श्रीप्रशस्तपादाचार्य ने भी श्रोत्र के विषय में ऐसी ही व्यवस्था दी है—"श्रोत्रं पुनः श्रवणविवरसंज्ञको नभोदेशः। शब्दनिमित्तोपभोगप्रापकधर्माधर्मोपनिबद्धस्तस्य च नित्यत्वे सत्युपनिबन्धकवैकल्याद्बाधिर्य्यमिति।" (प्र. भा. पृ. ३०८)]। आकाश का लक्षण होता है—

६-७–दिक्कालयोर्निरूपणम् —

विवादाध्यासितः संयोगो विशेषगुणरहितेभ्यो द्रव्येभ्यो जन्यते, संयोगत्वाद्, अन्तःकरणरूपद्वयसंयोगवत् । विवादास्पदं विशेषगुणरहितद्रव्यद्वयजन्यम्, कार्यत्वात्, तद्वदेव । न चान्तःकरणद्वयसंयोगत्वमुपाधिः, व्यर्थविशेषणत्वात् तद्वदेव । न चान्तःकरणद्वयगुणत्वमुपाधिः, द्वयगुणत्वेनैवोपपत्तौ विशेषणवैयर्थ्यात् । निरुपाधिकस्य (साध्य) परित्यागे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात् । न च साध्ये वहुवचनक्षेपणातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, दृष्टान्तासिद्धेः भूषणस्य संख्यानभ्युपगमेन मनोगतत्वस्य दूरापास्तत्वात् । न मनो मनसा संयुज्यते नित्यद्रव्यत्वादिति साधने दृष्टान्तासिद्धिः । अत एव संयोगाभ्युपगमेनास्पर्शवत्त्वाद् द्रव्यानारम्भकत्वमित्याह

शब्दवदाकाशम् । आकाश में छः गुण होते हैं—(१) शब्द, (२) संख्या, (३) परिमाण, (४) पृथक्त्व, (५) संयोग, (६) विभाग ।

—: ० :—

६-७–दिशा और काल का निरूपण—

[दिशा और काल को विशेषगुण-रहित सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग किये जाते हैं—] विवादास्पद संयोग, विशेषगुण-रहित द्रव्यों से उत्पन्न होता है, संयोग होने के कारण, दो अन्तःकरणों के संयोग के समान । अथवा विवादास्पद संयोग विशेषगुण-रहित दो द्रव्यों से जन्य होता है, कार्य होने के कारण, दो अन्तःकरणों के संयोग के समान । उक्त अनुमानों में अन्तःकरणद्वय-संयोगत्व धर्म को उपाधि मानने पर व्यर्थविशेषणता दोष होता है [क्योंकि द्रव्यद्वयजन्य संयोग का प्रयोजक केवल द्वयसंयोगत्व ही होता है, अन्तःकरण विशेषण की कोई आवश्यकता नहीं]। अन्त करणद्वयगुणत्व धर्म को उपाधि मानने में भी विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि द्वयगुणत्व मात्र ही साध्य का प्रयोजक होता है। निरुपाधिक हेतु से साध्य की सिद्धि अनिवार्य होती है, क्योंकि वह स्वभावतः साध्य का परित्याग नहीं कर सकता। यदि वह साध्य का परित्याग करता है, तब वस्तु के स्वभाव का परित्याग मानना होगा, जो कि संगत नहीं। प्रथम अनुमान में साध्यगत वहुवचन के निर्देश से अतिप्रसंग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें कोई दृष्टान्त नहीं। भूषणकार (न्यायभूषण प्रणेता श्रीभासर्वज्ञ) संख्या नाम का गुण पृथक् नहीं मानते, अतः उनके मत से अन्तःकरण में द्वित्व या बहुत्व संभावित ही नहीं। मन (अन्तः करण) दूसरे मन से संयुक्त नहीं होता, नित्य द्रव्य होने के

भाष्यकारः अन्यथा सजातीयसंयोगाभावमेव हेतुं ब्रूयात्, कारणत्वात् संयोगस्य तथा च व्योमशिवः–"परकीयेन च मनसा सूक्ष्मशरीरस्थं मनः पर्यायेणाभिसम्बन्धयति" न चानैकान्तिकत्वम्, अजसंयोगासिद्धेः। न च विमतिपदं विशेषगुणरहितद्रव्याभ्यां न जन्यते, अन्तःकारणसयोगातिरिक्तत्वाद् व्योमवदिति साम्प्रतम्, अकार्यत्व-स्योपाधेः। तयोश्च दिक्कालसञ्ज्ञेति। संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागयुक्तौ दिक्कालौ, सर्वगत्वादिति पूर्ववत्साधनीयम्।

—: ० :—

कारण—इस प्रकार का साधन-प्रयोग दृष्टान्त के अभाव में सम्भव नहीं। अत एव मन में संयोग मानकर स्पर्शाभाव को द्रव्यानारम्भकत्व का प्रयोजक भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य ने कहा है—"अस्पर्शवत्वाद् द्रव्यानारम्भकत्वम्" (प्र. भा. पृ. ४१२)। यदि मन में संयोग अभिमत न होता, तब भाष्यकार द्रव्यानारम्भकता में सजातीय संयोगाभाव को हेतु कहते, क्योंकि संयोग द्रव्योत्पत्ति का कारण होता है। श्री व्योमशिवाचार्य ने भी इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—'परकीयेन च मनसा सूक्ष्मशरीरस्थं मनः पर्यायेणाभिसम्बन्धयति इति' (व्यो. वा. पृ. ५५९) [अर्थात् योगिजन अपने मन का संयोग क्रमशः दूसरे व्यक्तियों के मन के साथ स्थापित करके दूसरों के मन में संकल्पित विचारों का ज्ञान प्राप्त किया करते हैं।] उक्त अनुमान का संयोगत्व हेतु आत्मा और आकाश के नित्य संयोग में रहता है, किन्तु वहाँ द्रव्यद्वय-जन्यत्व साध्य नहीं रहता, अतः व्यभिचारी है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अजन्य संयोग (विभुद्वय-संयोग) नहीं माना जाता है। विवादास्पद (संयोग) विशेष गुण-रहित दो द्रव्यों से जन्य नहीं होता, क्योंकि वह अन्तःकरण के संयोग से भिन्न है जैसे—व्योम। इस प्रकार का अनुमान-प्रयोग उचित नहीं, क्योंकि उसमें अकार्यत्व उपाधि है [आकाशादि नित्य पदार्थों में अकार्यत्व धर्म साध्य का व्यापक है और पक्षान्तर्गत घटादि के संयोग में साधन का अव्यापक है। सोपाधिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध माना जाता है, सद्धेतु नहीं होता।] उक्त अनुमानों के द्वारा प्रसाधित विशेषगुण-रहित विभु-द्रव्यों की संज्ञा दिशा और काल है। प्रत्येक में पाँच-पाँच गुण रहते हैं—(१) संख्या, (२) परिमाण (३) पृथक्त्व, (४) संयोग, (५) विभाग। इन गुणों की सिद्धि सर्वगतत्व हेतु के द्वारा पूर्ववत् कर लेनी चाहिए।

—: ० :—

८–आत्मनो निरूपणम्—

विवादाध्यासितोऽहम्प्रत्ययोऽहम्प्रत्ययव्यतिरिक्ते प्रमा प्रमात्वात्, सम्प्रतिपन्नवत् ।

—: ० :—

१–आत्मैव ज्ञानाधारः—

तस्य च को विषय इति चिन्तायां परशरीरपरात्मादिष्वतिप्रसङ्गनिराकरणार्थं यत्र स्वयं समवेतः, स एव तस्य विषय इति वक्तव्यम्–इतिस्थिते ।

न शरीरं तत्समवायि, कार्यत्वाद्, घटवत् । न चाशरीरत्वमुपाधिः, मृतशरीरे तदभावेऽपि साध्यसाधनयोरनुगमदर्शनात् । न चाजीवच्छरीरत्वमुपाधिः, सुषुप्तौ जीवच्छरीरेऽपि तदभावात् । अवस्थाविशेषवतः शरीरस्य पक्षत्वान्न दोषः—तथा शरीरत्वात् मृतशरीरवदिति वाच्यम् ।

८–आत्मा का निरूपण—

विवादास्पद अहम्प्रत्यय (अहं-अहं इस प्रकार की प्रतीति) अपने से भिन्न विषय में प्रमाण होता है, क्योंकि वह प्रमा है, जैसे—घटादि-प्रमा ।

—: ० :—

१–आत्मा ही ज्ञान का अधार है—

'अहम्' इस प्रकार की प्रतीति का विषय क्या है ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर शरीर और परकीय आत्मा आदि में अतिप्रसंग निवारणार्थ यही कहना होगा कि वह प्रतीति जिस वस्तु में समवेत होती है, वही उसका विषय होता है । उस प्रतीति का समवायिकारण कौन है, जिसमें वह समवेत होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहना होगा—शरीर उस प्रतीति का समवायिकारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह कार्य है, जैसे—घट । इस अनुमान में अशरीरत्व धर्म उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि मृत शरीर में साध्य और साधन का अनुगम देखा जाता है, किन्तु वहां अशरीरत्व नहीं रहता, अतः साध्य का समव्याप्त न होने के कारण उसे उपाधि नहीं कहा जा सकता । साध्य-समव्याप्तिक धर्म ही उपाधि होता है—यह विगत पृष्ठों पर कहा जा चुका है । अजीवित शरीरत्व धर्म को भी उक्त अनुमान में उपाधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि सुषुप्ति-कालीन जीवित शरीर में उसका अभाव होता है, [अतः साध्य की व्यापकता न होने के कारण अजीवित शरीरत्व को उपाधि नहीं मान सकते । अवस्था-विशेष-युक्त

विवादाध्यासितः प्राणो न ज्ञानाधारः कार्यत्वाद्, वायुत्वात्, प्राणत्वात् सुषुप्तावस्थप्राणवत् ।

विवादाध्यासितं बोधाधारजं कार्यत्वात्, चेष्टावत् । न च योग्यानुलब्धिबाधः, प्रयत्नाधारस्येव बोधाधारस्य योग्यत्वेनापि सम्भवात् । गौरत्वादिवद् बोधस्य परप्रत्यक्षासिद्धेः । तद्विशिष्टस्यातीन्द्रियत्वात् मनसः परबोधग्रहणे सामर्थ्याभावात् । शरीरस्य तु योग्यानुपलब्ध्या बाध इति चेत्, किं चातः ? तस्यैव बोधाधारत्वात् तदभावे बोधाधारस्यापि अभाव इति चेत्, न; नियमासिद्धेः । व्याप्तत्वान्नैवमिति चेत्, तर्ह्यनुमानेन बाधो वक्तव्यः तत्र चाश्रयनिरूपणं दुर्घटम् । विवादाध्यासितं बोधाधारजं न भवति, शरीरजन्यत्वाद् आकाशवदिति प्रागेव

शरीर को पक्ष बना लेने पर किसी प्रकार कादोष उपस्थित नहीं होता अर्थात् जीवित शरीर, अहं प्रतीति का समवायिकारण नहीं होता, शरीर होने के कारण, जैसे मृत शरीर—इस प्रकार के प्रयोग में कोई दोष नहीं ।

[श्रीप्रशस्तपादाचार्य ने शरीर, इन्द्रिय और मन में ज्ञानाधारता का निषेध किया है—"न शरीरस्य चैतन्यम्...नेन्द्रियाणाम्...नापि...मनसः (प्र. भा. पृ. ३६०)] किन्तु प्राण में ज्ञानधारता का निषेध नहीं किया, अतः अप्रत्याशित शङ्का दूर करने के लिए भी वादिवागीश्वराचार्य इस ओर अपनी लेखनी का मुख मोड़ रहे हैं—] विवादास्पद प्राण, ज्ञान का आधार नहीं हो सकता, क्योंकि वह कार्य है, वायु है, या प्राण है, जैसे—सुषुप्ति अवस्था का प्राण [सुषुप्ति अवस्था में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता, अतः इस अवस्था के प्राण में ज्ञानाधारता का अभाव निश्चित है ।]

[स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्म शरीर तक में ज्ञानाधारता का निषेध हो जाने पर परिशेषतः आत्मा ही ज्ञान या चैतन्य का आधार निश्चित होता है । व्यष्टि जगत् का रचयिता वही ज्ञानाधार तत्त्व है—] विवादास्पद [घटादि कार्य] ज्ञान के आधारभूत तत्त्व की रचना है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे—शरीरगत चेष्टा । 'घटादि की रचना करते हुए कहीं उस आत्मा की उपलब्धि नहीं होती, सदैव शरीर को उसका निर्माता देखा जाता है, अतः योग्यानुपलब्धि के द्वारा उक्त अनुमान का बाध हो जाता है—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि [जैसे पिशाच के कार्यों का योग्यानुपलब्धि से इसी लिए बाध नहीं होता कि वह प्रत्यक्ष-योग्य नहीं है, वैसे ही] दूसरे का आत्मा प्रत्यक्ष के योग्य नहीं होता । दूसरे के बोध या बोध के आधार तत्त्व का ग्रहण

व्युदस्तम्। शरीराजन्यत्वोपाधिवादेऽपि मृतशरीरक्रियादिषु व्यभिचारवारणार्थं बोधाधारपूर्वकत्वमभ्युपगन्तव्यम्। तद्व्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषणं चोपादेयम्। तत्रापि सुषुप्तशरीरक्रियादिषु व्यभिचारपरिहाराय जाग्रत इति विशेषणप्राप्ते, अत्राप्युदासीनस्याकस्मिकनिपतितक्रियापरिहारार्थं 'कुर्वत' इति वक्तव्यम्। स्वस्यैव प्रयासाधिक्यमुक्तं स्याद् व्यर्थविशेषणत्वं चोक्तं पूर्वम्। उपाधिरविनाभूतधर्मधर्मत्वेन भवत्येवैतद् षणम्। अन्यथानुमानान्तरेष्वपि तन्न स्यात्। निरुपाधिकस्य सम्बन्धस्य व्याप्तित्वेनोपाधिभङ्गे जाते, क्वचित् सम्बन्धे च दृष्टे, अन्यत्र केवलस्य हेतोर्दर्शनमपि न दोषमावहतीत्यवोचमित्यलम्।

—:०:—

दूसरे के मन से भी नहीं हो सकता। यदि कहा जाय—आरम्भिक द्व्यणुकादि की रचना में शरीर-जन्यता का तो योग्यानुपलब्धि से बाध होता है। तो इससे क्या लाभ? वही (शरीर) ही तो बोध का आधार होता है, शरीर-जन्यता का अभाव होने पर बोधाधार-जन्यता का भी अभाव होगा—ऐसा भी कोई नियम नहीं। यदि यत्र यत्र ज्ञानाधार-जन्यत्वम्, तत्र तत्र शरीराजन्यत्वम्-ऐसी व्याप्ति निश्चत है। तब तो अनुमान के द्वारा बाध प्रस्तुत करना होगा, जिस में पक्ष का निरूपण दुर्घट है। विवादास्पद कार्य, बोधाधार से जन्य नहीं, क्योंकि वह शरीर से जन्य नहीं होता—इस अनुमान का निरास तो पहले (ईश्वर-सिद्धि के प्रकरण में) ही किया जा चुका है। शरीराजन्यत्व उपाधि वाद में भी मृत शरीर-जन्य क्रिया में व्यभिचार वारण करने के लिए बोधाधार-पूर्वकत्व मानना होगा और तद्भिन्नत्व विशेषण जोड़ना होगा। फिर भी सुषुप्त शरीर की क्रियाओं में व्यभिचार परिहार करने के लिए जाग्रतः यह विशेषण लगाना होगा, तब भी उदासीन व्यक्ति की आकस्मिक क्रिया में अतिप्रसंग हो जाता है, जिसकी निवृत्ति के लिए 'कुर्वतः' इस प्रकार के विशेषण का योग करना होगा, इस प्रकार उपाधि-वाद में विपुल प्रयास करना पड़ता है और विशेषण-वैयर्थ्य भी होता है—यह पहले कह चुके हैं। अविनाभूत धर्म के रूप में उपाधि को दोष माना जाता है, अन्यथा दूसरे अनुमानों में भी उसकी प्राप्ति नहीं होगी, निरुपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति कहा जाता है। उपाधि का भङ्ग हो जाने पर और किसी एक स्थल पर साध्य-साधन का सम्बन्ध उपलब्ध हो जाने से अन्यत्र केवल हेतु का दर्शन भी दोषाधायक नहीं होता।

—:०:—

२—प्रभाकरमतनिरासः—

अन्ये तु सर्वार्थवित्तिषु ग्राहकत्वेन आत्मसिद्धिरिति ब्रुवते। तदसत्, आत्मनोऽपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्, तज्जनितज्ञाने भासमानत्वस्यैव तत्वात्। यदि च नीरूपद्रव्यस्यापि चाक्षुषत्वम्, तदा नभसोऽपि तथात्वप्रसङ्गात्। न चात्मा चाक्षुषज्ञाने प्रकाशते नीरूपद्रव्यत्वाद् गगनवत्। विवादाध्यासितं ज्ञानम् आत्मप्रतिभासं ज्ञानत्वाद् अहमिति सम्प्रतिपन्नवदिति चेत्, न, कालात्ययापदेशात्। तथा हि—अस्ति तावत् सौगततच्छिष्याणामनात्मवासनातो विषयेभ्यो निवृत्तिः, अनात्मवासनातश्च प्रवृत्तिरिति। न च ते प्रमाणमूले एवेति नियमः, रज्जुसर्पविवेकाग्रहणाद्वा विभ्रमाद्वा शुक्तिरजतविवेकाग्रहणाद्वा विभ्रमाद्वानयोरनुदयप्रसङ्गात्! न च ते न निवृत्ती, नापि प्रवृत्ती वा। न चाज्ञानपूर्विका निवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा स्वस्थस्य सम्भवति। न चात्मज्ञाने तेषां तदुपपद्यते, तथानभ्यासदशायां कोऽहमित्य (ध्यवसायानुपपत्तिर्निश्चीयते) नध्यवसायेऽतिप्रसङ्गात्।

२-प्रभाकर मत का निरास—

अन्य (प्रभाकर मिश्र) आचार्य सर्वार्थविषयक ज्ञानों में ग्राहकत्वेन आत्मा का भान मानते हैं। उनकी वह मान्यता नितान्त असंगत है, क्योंकि घटादि के चाक्षुषज्ञान में आत्मा का भान मानने पर उसमें भी चाक्षुषत्व प्रसक्त होगा, क्योंकि चक्षु-जनित ज्ञान में भासमानत्व को ही चाक्षुषत्व कहा जाता है। यदि आत्मा-जैसे नीरूप द्रव्य को भी चाक्षुष माना जाय, तब आकाश को भी चाक्षुष मानना होगा। किन्तु आत्मा कभी चाक्षुषज्ञान में प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि वह वैसा ही नीरूप द्रव्य है, जैसा कि गगन। यदि इसके विपरीत यह अनुमान किया जाय कि 'विवादास्पद ज्ञान, आत्मा का भासक होता है, ज्ञान होने के कारण, अहम् इस प्रकार की प्रतीति के समान।' तो यह अनुमान निर्दुष्ट नहीं होगा, क्योंकि इसमें कालात्ययापदेश (बाध) दोष विद्यमान है—बौद्ध गणों की अनात्म-वासना से प्रसूत विषयमात्र के ज्ञान से प्रवृत्ति और निवृत्ति हुआ करती हैं [उनके ज्ञानों में ज्ञानत्व रहने पर भी आत्मविषयकत्व नहीं रहता] प्रवृत्ति और निवृत्ति सदैव प्रमाण ज्ञान-मूलक ही होती है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि रज्जु-सर्पादि के भ्रम ज्ञान से भी प्रवृत्ति-निवृत्ति देखी जाती है। बौद्धों की प्रवृत्ति-निवृत्ति भी अन्य लोगों के समान ही है। इसी प्रकार अनभ्यास-दशा में 'कोऽहम्'—ऐसा अनध्यवसाय या संशय भी प्रभाकर मत में नहीं होगा।

किंच कः पुनस्तत्प्रतिभासे सम्बन्धार्थः ? कर्मत्वम्, तदतिरिक्तं वा ? प्रथमेऽपसिद्धान्तः, द्वितीये दृष्टान्तासिद्धेः। विषयत्वं च प्रथमान्नातिरिच्यते। ग्राहकगृहीतिभावे तु सिद्धसाधनम्। अतोऽतिरिक्तस्यानुगतसम्बन्धमात्रस्यासिद्धिः।

किंच योगिनां वियुक्तावस्थायां परमाणुरूपादिविषयचाक्षुषज्ञानस्य पक्षीकारे भवतामाश्रयैकदेशासिद्धः, अन्यथाऽस्माकमनैकान्तः। न च मानसप्रत्यक्षत्वे तत्सामग्र्याः सर्वदा सन्निहितत्वात् सुषुप्तावस्थायमप्यात्मज्ञानप्रसङ्गः, अहं शरीरमितिविवेकाग्रहणादिषु अहंज्ञानोत्पत्तौ वाह्येन्द्रियव्यतिरिक्तकारकग्रामस्यैव त्वयापि वक्तव्यत्वात् तद्बलेनैव सर्वस्योपपत्तेः, तथाविधकर्मवैकल्याद्वा। तस्मान्न सर्वविदिष्वात्मनः प्रतिभासः।

—: ० :—

एक जिज्ञासा यह भी होती है कि सभी ज्ञानों में आत्मा का भान किस सम्बन्ध से होता है—कर्मत्व अथवा उससे भिन्न सम्बन्ध के द्वारा ? कर्मत्व रूप से आत्मा का भान मानने पर अपसिद्धान्त दोष होता है, [क्योंकि घटादि ज्ञानों में आत्मा का कर्तृत्वेन ही भान प्रभाकर मानते हैं, कर्मत्वेन नहीं]। कर्मत्वातिरिक्त सम्बन्ध से आत्मा का भान मानने में कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता। विषयत्व सम्बन्ध कर्मत्व से भिन्न नहीं हो सकता। ग्राहक-गृहीत रूप से भान मानने पर सिद्ध-साधन दोष है। इनसे अतिरिक्त और कोई अनुगत सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

सभी ज्ञानों की पक्ष-चक्रिका में परमाणुगत रूपादि-विषयक योगियों के चाक्षुष ज्ञान का समावेश मानने पर प्रभाकर मत में पक्ष का एक देश असिद्ध होता है, नहीं तो वैशेषिक मत से उक्त ज्ञान में अनैकान्तिकता प्राप्त होती है। यदि कहा जाय कि आत्मा का मानस प्रत्यक्ष मानने पर आत्मा के साथ मन का सन्निकर्ष सदैव रहता है, जो कि प्रत्यक्ष की सामग्री है, अतः सुषुप्ति अवस्था में भी आत्मा का ज्ञान प्राप्त होता है, 'अहं शरीरम्'—इस प्रकार के विवेकाग्रह से आत्मज्ञान की उत्पत्ति में वाह्येन्द्रिय-रहित कारक चक्र को हेतु मानना आवश्यक हो जाता है, उसी के वल पर यह कहा जा सकता है कि सुषुप्ति में उसका अभाव होने के कारण आत्मज्ञान नहीं होता, अथवा उस अवस्था में आत्मज्ञान-जनक अदृष्ट का वैकल्य होने के कारण वह ज्ञान नहीं होता, अतः सभी ज्ञानों में आत्मा का प्रतिभास नहीं माना जा सकता।

—: ० :—

३–आत्मनो ज्ञानरूपत्वनिरासः—

स च ज्ञानाश्रयो न तु विज्ञानात्मकः, "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृह. ४।३।२३) इति श्रुतौ द्रष्टृदृष्ट्योः सम्बन्धप्रतीतेः। न चाम्नायप्रतीतो भ्रान्तो भवितुमर्हति, अविशेषात्। न च सिद्धार्थे वाचकाभावः, अपसिद्धान्तात्। न चातत्परत्वम्, तस्यान्यतोऽसिद्धत्वेन विशिष्टपरत्वात्। न च राहोः शिर इतिवदुपचरितत्वम्, मुख्ये बाधकाभावात्। न चाद्वैतश्रुतिर्बाधिका, विपर्यये नियामकाभावात्, तत्राप्युपचारप्रवृत्तेः सुलभत्वात्। न च प्रत्यक्षं बाधकम्, प्रत्युत तस्य भेदग्राहकत्वात्। न च तत्र तस्य सामर्थ्यं नास्तीति वाच्यम्, सामर्थ्ये सति विरोधाभावात्। न च सम्बन्धाभावे ग्रहणासम्भवः, अदोषत्वात्।

३–आत्मा की ज्ञानरूपता का निरास—

वह आत्मा ज्ञान का आश्रय होता है, ज्ञानात्मक (ज्ञान से अभिन्न) नहीं, क्योंकि "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (अर्थात् द्रष्टा आत्मा की दृष्टि=ज्ञान का विपरिलोप स्वप्न में नहीं होता)—इस श्रुति के आधार पर द्रष्टा और दृष्टि के मध्य सम्बन्ध प्रतिपादित होता है, जिसकी उपपत्ति अभेद-पक्ष में नहीं हो सकती। सर्वथा प्रमाणभूत वेद के द्वारा प्रतिपादित सम्बन्ध को भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। यदि वेदान्तिगण कहते हैं कि आत्मा सिद्ध पदार्थ है, सिद्ध-अर्थ में वैदिक पदों की शक्ति नहीं होती, तो उनका वैसा कहना अपसिद्धान्त हो जाता है, क्योंकि वेदान्ती सिद्ध-अर्थ की वाचकता सिद्ध करने के लिए कुछ उठा नहीं रखते। उक्त श्रुति आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध का बोध नहीं कराती—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकरण के आधार पर विशिष्टार्थ-परता निश्चित होती है। 'राहोः शिरः'—इस प्रयोग के सामान आत्मा और ज्ञान में औपचारिक सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि मुख्य सम्बन्ध में कोई बाधक नहीं। अद्वैत श्रुति को यदि बाधक कहा जाय, तब अद्वैत श्रुति को उस सम्बन्ध बोधक श्रुति से बाधित क्यों न माना जाय? इस प्रकार के विपरीत बाध्य-घातक भाव का निवारक कोई उपलब्ध नहीं होता। भेद-सम्बन्ध में उपचार प्रवृत्ति के समान अभेद में भी उपचार-प्रवृत्ति सुलभ है। सम्बन्ध-बोधक श्रुति का प्रत्यक्ष प्रमाण भी बाधक नहीं, प्रत्युत साधक है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण भेद का ग्राहक होता है। प्रत्यक्ष का भेद के प्रकाशन में सामर्थ्य नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सामर्थ्य मानने में किसी प्रकार का विरोध प्रसक्त नहीं होता। भेद के साथ ज्ञान का कोई सम्बन्ध न होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान उसके ग्रहण में असमर्थ

न चातिप्रसङ्गः, अनुपलब्धेर्नियामकत्वात् । प्रतियोगितत्प्रयुक्तव्यतिरिक्तसामग्री-सान्निध्ये सति प्रतियोगिज्ञाने च सति नियामकत्वात् । अथवा करणसम्बन्धस्यैव नियामकत्वात् । तथा हि—घटसंयुक्तेन चक्षुषा जनितं ज्ञानं घटमेवावगाहते, नार्थान्तरम्; असम्बद्धत्वात् । किञ्चास्ति तावदियं प्रसिद्धिः "अत एव व्यवहरामः" इतिवचनात् । तस्याश्च कारणाभावे सति नित्यत्वं स्यात् ।

—: ० :—

४–भेदोज्जीवनम्—

न चैवमप्रत्यक्षत्वं भेदस्य, सम्यगपरोक्षानुभवविषयस्यैव सत्त्वात् । नित्यत्वे च त्रयाणां सिद्धेः । न चापसिद्धान्तः, अस्माकमपि नित्यप्रतीतिसिद्धेः । न च भेदानवस्था बाधिका, भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात् । भेदभेदिनौ भिन्नाविति लोकव्यवहारादर्शनात् । न चैकभेदबलेनान्यभेदानुमानम्, दृष्टान्तभेदाविघातेनोत्थाने

है—यह नहीं कह सकते, क्योंकि सम्बन्ध के अभाव में भी उसका ग्रहण होने पर कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता। बिना सम्बन्ध के वस्तु का भान मानने पर असम्बद्ध या विप्रकृष्ट अथवा व्यवहित वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा—ऐसा सन्देह भी नहीं कर सकते, क्योंकि अनुपलब्धि प्रमाण उसके अभाव का नियामक होता है। प्रतियोगी से भिन्न प्रत्यक्ष की समस्त सामग्री का सन्निधान एवं प्रतियोगी का ज्ञान होने पर योग्यानुपलब्धि का उदय होता है और उससे प्रतियोगी का अभाव सिद्ध हो जाता है। अतः असन्निहित प्रतियोगी का भात्र प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता। अथवा इन्द्रिय-सम्बन्ध को ही नियामक माना जा सकता है अर्थात् घट-संयुक्त चक्षु के द्वारा जनित ज्ञान घट को ही विषय करता है, अर्थान्तर को नहीं, क्योंकि वह इन्द्रिय-सम्बद्ध नहीं है।

—: ० :—

४-भेद का उज्जीवन—

दूसरी बात यह भी है कि लोक में भेद की प्रसिद्धि अत्यन्त सुदृढ़ है, स्वयं आचार्य विमुक्तात्मा ने मुक्त-कण्ठ से कहा है—"अत एव व्यवहरामः" [इष्टसिद्धि पृ. २ पर भेद-वादी की ओर से सन्देह उठाया गया है—"नन्विदन्तया चेत्यं भाति, अनिदन्तयैव तु चित्, अतस्तयोर्भेदः प्रसिद्धतरो लोके।" अर्थात् चेत्य (दृश्य वस्तु) की प्रतीति 'इदं वस्त्रम्' आदि रूप से होती है, किन्तु चित् (चेतन) की 'इदं' रूप से प्रतीति न होकर 'अहम्' रूप से होती है, अतः जड़-चेतन का भेद प्रमा-

दोषाभावात् । सोऽयं पिण्याकयाचनार्थं गतस्यापि शाकादिनः खारिकातैलदातृ-

---

णित करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण अद्वैत-वाद का घोर घातक है। वार्तिककार ने भी यही सन्देह व्यक्त किया है—

ननु भेदाश्रितैर्वाक्यैर्विधायकनिषेधकैः ।
अक्षादिभिश्च नैकात्म्यं वाधितत्वात् प्रमाणवत् ॥ (बृह. वा. पृ. २९)

इस सन्देह का समाधान विमुक्तात्मा ने इस प्रकार किया है—"अत्रोच्यते सत्यं प्रसिद्धिरस्ति, अत एव व्यवहरामः, किन्तु नास्याः मूलं पश्यामः। कथम् ? उच्यते—यद्यपि दृग्दृश्ययोर्भेददृष्टिः समस्ति, तथापि न सा दृग्दृश्ययोः सम्भवेत्, दृशोऽदृश्यत्वात्।" अर्थात् जड़-चेतन की प्रत्यक्षतः भेद-प्रसिद्धि अवश्य है और उसी के आधार पर वेदान्ती-गण कहा भी करते हैं—'अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोक-व्यवहारः" (शां. भा. १।१ १)। किन्तु वह भेद-प्रसिद्धि निर्मूल है, क्योंकि प्रतियोगी और अनुयोगी का प्रत्यक्ष होने पर ही उनके भेद का प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु चेतन तत्त्व अदृश्य होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं, अतः उसके भेद का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं]। भेद की प्रसिद्धि या प्रतीति का कोई कारण (मूल) नहीं, तब उसे नित्य मानना होगा [क्योंकि कारण-रहित प्रामाणिक वस्तु को नित्य कहा जाता है]। उसे नित्य मान लेने पर अनुयोगी, प्रतियोगी और भेद—तीनों नित्य सिद्ध हो जाते हैं और अद्वैतवाद भङ्ग हो जाता है। भेद-प्रतीति को नित्य मान लेने पर वैशेषिकों के मत में अपसिद्धान्त दोष नहीं, क्योंकि वे नित्य-प्रतीति (सर्वविषयक ईश्वरीय ज्ञान) मानते हैं। चेतन अप्रत्यक्ष है, अतः उसका भेद प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि चिदात्मा तथा उसके भेद में प्रत्यक्ष अनुभव की विषयता विद्यमान है।

विमुक्तात्मा ने जो यह कहा है—"न च भेदभेदिनोर्भेदः, अनवस्था-प्रसक्तेः" (इष्टसि. पृ. ३) अर्थात् भेद और भेदी का भेद मानने पर अनवस्था होगी। वह कहना भी उचित नहीं, क्योंकि एक ही भेद स्व-पर-भेद का निर्वाहक हो जाता है, भेदान्तर मानना निरर्थक है। 'भेदभेदिनौ भिन्नौ'—इस प्रकार की कोई प्रतीति ही नहीं होती, जिसके आधार पर भेदान्तर की प्रसक्ति हो। एक भेद को दृष्टान्त बनाकर भेदान्तर का अनुमान करने में दृष्टान्तभूत भेद उभय वादी को मानना होगा। वैशेषिकों को इससे अधिक और चाहिए क्या ? वे तो केवल एक भेद चाहते थे और उन्हें दिये जा रहे हैं अनेक भेद। शाक छौंकने

त्वाभ्युपगम इव । दृष्टान्तभेदविघाते त्वनुमानानुत्थानमेव, उपजीव्यस्य प्रबलत्वेन तेनैव बाधात् । स्वात्मव्याघातकत्वेन जातित्वात् । एतेनादृश्यत्वादयो निरस्ताः ।

न चानिर्वचनीयत्वं भेदस्य, तत्र प्रमाणाभावात् । ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिः प्रमाणमिति चेत्, अन्यथाप्युपपत्तौ विरोधाभावात् । असतो भासमानायोगात्, बाधायोगात् सतः, अत्र चोभयं दृश्यते इति चेत्, न; प्रथमे असत्पदस्य बोधकत्वे भासमानायोगादित्यनेन व्याघातः । अन्यथाऽपार्थकत्वम्, प्रयुक्तपदार्थानां सम्भूयकारित्वनियमात् । द्वितीये सत इति कोऽर्थः? किं सत्तायुक्तस्य, आहो-

---

के लिए किसी के पास तेल नहीं है। तेल के अभाव में खली से ही काम चला लूंगा—यह सोचकर खली मांगने जाता है। सौभाग्य से एक ऐसा दाता मिल गया, जो कहता है खली ही नहीं, मैं आपको तेल की भरी एक कोठी (खारी = लगभग ३२ × १६ · ५१२ सेर) ही दिये देता हूं। उस शाकाहारी का इससे बढ़कर प्रसन्नता का दूसरा अवसर और क्या होगा? वेदान्तीगण दृष्टान्तरूप भेद के बिना ही भेदान्तर का अनुमान करना चाहें, तो वह सम्भव नहीं, क्योंकि दृष्टान्त के बिना अनुमान का उत्थान ही नहीं हो सकता। दृष्टान्त उपजीव्य होता है और अनुमान उपजीवक। उपजीव्य प्रबल होता है। उपजीव्य के विरोध में उपजीवक का बाध हो जाता है। अर्थात् किसी भेद को दृष्टान्त बनाकर भेदान्तर का अनुमान इसीलिए किया जाता है कि अनवस्था दिखाकर भेद का निराकरण कर दिया जाय। इस प्रकार के उपालम्भ (दोषोद्भावन) को जात्युत्तर कहा जाता है, जो कि अपने पक्ष का ही घातक होता है। [श्री प्रत्यक्स्वरूप ने इस खण्डलक को उद्धृत करते हुए कहा है—"न च भेदानवस्था बाधिका, भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्। भेदभेदिनौ भिन्नाविति व्यवहारादर्शनात्। न चैकभेद-बलेनान्यभेदानुमानम्, दृष्टान्तभेदाविघातेनोत्थने दोषाभावात्। सोऽयं पिण्याकयाचनार्थं गतस्य पाकिनः खारिकातैलदातृत्वाभ्युपगमादिव। दृष्टान्तभेदविमर्दे त्वनुत्थानमेव, उपजीव्यस्य प्रबलत्वेन बाधात्। स्वात्मव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वाच्च। एतेनादृश्यत्वादयो निरस्ताः"।]

भेद को अनिर्वचनीय मानने में भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, अतः उसे सत्य मानना ही उचित है, यदि कहा जाय कि ख्याति और बाध की अन्यथा (अनिर्वचनीयत्व के बिना) अनुपपत्ति ही भेद की अनिर्वचनीयता में प्रमाण है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अन्यथा उपपत्ति मानने में भी किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता। असद् वस्तु का भान अयुक्त है और सद् वस्तु का बाध नहीं हो सकता,

स्विदबाधितस्य, ब्रह्मस्वरूपस्य वा ? प्रथमे सत्तायुक्तस्याबाधितत्वेन व्याप्तिः कुत्र दृष्टा ? प्रपञ्चस्य बाध्यत्वाद्, ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वेन सत्ताभावात् । द्वितीये साध्याविशिष्टता । तृतीये सिद्धसाधनता । तस्मान्नानिर्वचनीयत्वमपि ।

—: ० :—

५-अखण्डार्थत्वखण्डनम्--

एतेन यदाहुरेकदण्डिनः—सत्यादिपदमखण्डपरम्, लक्षणवाक्यत्वाद्,

भेद में दोनों (भान और बाध) देखे जाते हैं, अतः उसे अनिर्वचनीय मानना चाहिए—इस प्रकार का वक्तव्य निर्दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि "असतो भासमानायोगात्"—इस प्रथम वाक्य में 'असत्' पद यदि किसी अर्थ का भासक है, तब उसका भासमानायोगात् इस पद के साथ विरोध होता है और यदि 'असत्' पद कि.ी अर्थ का बोधक नहीं, तब अपार्थक नाम का निग्रह-स्थान प्राप्त होता है, [क्योंकि वाक्य में प्रयुक्त पदावली मिलकर जिस अर्थ का बोध किया करती है, उसे वाक्यार्थ कहा जाता है, निरर्थक पद का प्रयोग होने पर वाक्यार्थ सम्भव नहीं हो पाता]। "बाधायोगात् सतः"—इस द्वितीय वाक्य में 'सत्' शब्द का क्या अर्थ है—सत्ता जाति से युक्त, अबाधित अथवा ब्रह्मरूप ? प्रथम पक्ष मानने पर सत्तायुक्त का बाध नहीं होता—ऐसा नियम कहां देखा जाता है ? सत्ता-युक्त समस्त प्रपंच वेदान्त-सिद्धान्त में बाधित ही होता है और अबाधित ब्रह्म निर्धर्मक होने के कारण सत्ता-युक्त नहीं होता। द्वितीय पक्ष में अबाधित का बाध नहीं होत.—यह अर्थ फलित होता है, जिसमें साध्याविशिष्टता दोष है [अयं बाध्यो न भवति, अबाधित्वात्—इस प्रकार के अनुमान-प्रयोग में हेतु और साध्य का भेद नहीं, अतः हेतु-निश्चय काल में ही साध्य का निश्चय हो जाने के कारण सिद्ध-साधनता दोष उपस्थित होता है। साध्य-समानार्थक हेतु-पद का प्रयोग साध्याविशिष्टता कहलाता है]। तृतीय पक्ष में ब्रह्मणो बाधायोगात्—यह अर्थ निर्गलित होता है, जो कि हमें भी सम्मत है, क्योंकि वैशेषिक मत में भी ईश्वर का बाध कभी नहीं होता और वही ब्रह्म कहलाता है, अतः सिद्ध साधनता दोष होता है। इसलिए भेद को अनिर्वचीय किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता।

—: ० :—

५-अखण्डार्थता का निराकरण—

एकदण्डी (शाङ्कर वेदान्ती) जो यह कहा करते हैं कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'—इस वाक्य के घटक सत्यादि पद अखण्डार्थक होते हैं,

गन्धवती पृथिवीतिवत्, घटः कलश इतिवद्वा। तदपि निरस्तम्, अखण्डपर-मित्यन्यूनानतिरिक्तार्थमित्यर्थो यत इति। न चाद्वैतपक्षे सत्यज्ञानानन्दादि-शब्दानां सहप्रयोगो घटते, पर्यायत्वात्। अपर्यायत्वेऽद्वैतहानिः। न च 'प्रकृष्टः प्रकाशः सविता' इतिवत् शब्दद्वयेनापि एक एवार्थः प्रतिपाद्यते इति युक्तम्, दृष्टान्तासिद्धेः। प्रकृष्टशब्दस्येतरेतराभावादिनिमित्तसव्यपेक्षतया प्रवृत्तेः, प्रकाशशब्दस्य प्रकाशत्वबलात्। अन्यथा तत्रापि पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात्।

किं च लोके यथा प्रकृष्टप्रकाशशब्दयोः परस्परव्यतिरेकेण प्रयोगः—प्रकृष्टः पुमान्, प्रदीपः प्रकाश इति। द्वयोश्चैकत्र मयूखमालिनि प्रयुक्तयोस्तु अर्थविशेष-

---

क्योंकि वह वाक्य ब्रह्म का वैसा ही लक्षण-वाक्य है, जैसा कि गन्धवती पृथिवी—यह पृथिवी का लक्षण-वाक्य। अथवा 'घटः कलशः'—यह वाक्य जैसे अखण्डार्थक है, वैसे ही प्रकृत वाक्य। वह वेदान्त-सिद्धान्त भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि अखण्ड-परता का अर्थ होता है—अन्यून और अनतिरिक्त अर्थ की बोधकता। ऐसा मानने पर सत्य, ज्ञान और आनन्द आदि शब्दों का सह-प्रयोग सम्भव नहीं क्योंकि सभी पदों को पर्याय या समानार्थक माना जाता है, उन्हें अपर्याय मानने पर अद्वैत की हानि होती है। [विमुक्तात्माने अपर्याय शब्दों की अभिन्नार्थकता में जो दृष्टान्त दिया है—"अस्ति हि सा प्रकृष्टप्रकाशः सवितेत्यादिष्वपि" (इष्टसि. पृ. २५)। उसका भी निराकरण किया जाता है—] 'प्रकृष्टप्रकाशः सविता'—इस वाक्य के दोनों पद जैसे एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं, वैसे ही सत्यादि पद भी होते हैं—ऐसा अनुमान भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि दृष्टा-न्तासिद्धि दोष है। दृष्टान्त-घटक 'प्रकृष्ट' पद इतरेतराभाव या अन्य प्रकाश से उत्कृष्टता अर्थ को ध्यान में रखकर प्रयुक्त हुआ है और 'प्रकाश' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त प्रकाशत्व है—इस प्रकार दोनों पद विभिन्नार्थ के समर्पक होते हैं, अखण्डार्थक नहीं। समानार्थक मानने पर यहाँ भी पर्याय शब्दों का सह-प्रयोगाभाव दोष लगाया जा सकता है।

दूसरी बात यह भी है कि जैसे लोक में 'प्रकृष्ट' और 'प्रकाश' शब्दों का परस्पर वियुक्त-प्रयोग देखा जाता है—प्रकृष्टः पुमान्, प्रदीपः प्रकाशः। उन वियुक्त पदों का प्रयोग सूर्य के अर्थ में एकत्र किया गया है। किन्तु ज्ञान, आनन्द आदि शब्दों का वैसा वियुक्त-प्रयोग सम्भव नहीं, क्योंकि लौकिक ज्ञान और आनन्द को भी ब्रह्मरूप माना जाता है. भिन्नार्थक मानने पर अद्वैतवाद भग्न हो जाता है। इस लिए आनन्द शब्द दुःखाभाव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—ऐसा मानना ही उचिततम

बोधकत्वम् । न चैवं ज्ञानानन्दशब्दयोरस्ति । लौकिकज्ञानानन्दस्यापि ब्रह्मरूपत्वात् । भेदेन व्युत्पत्तौ भग्नोऽद्वैतवादः । तस्मादानन्दशब्दो दुःखाभावमात्रे प्रयुक्तः, मुख्ये बाधकसम्भवात्—"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छां. उ. ८।१२।१) इति वचनात् । न चास्य सांसारिकसुखनिषेधपरत्वम्, सुखद्वयस्याभावात् । लोकेऽपि मात्रया परमानन्दप्रतीतिरित्यभ्युपगमात् । न चात्रावच्छिन्नसुखनिषेधार्थम्, तत्राप्यवच्छेदस्यैव निषेधो न सुखस्य । न च सामान्यशब्दस्य संकोचे प्रमाणमस्ति । न चानन्दश्रुतिः प्रमाणम्, तस्या उपचरितार्थत्वात् । न च विपर्ययः, आनन्दस्य सर्वदाऽदर्शनेनानित्यत्वप्राप्तौ मोक्षत्वव्याघातात् ।

योगर्द्धिसमासादितचिरकालोपभोग(योग्य)सुखविशेषपरत्वेनाप्युपपत्तेः । अनन्तत्वादिश्रुतिस्तु आपेक्षिकसुखाद्यपेक्षया बहुकालत्वेन व्याख्येया, "अमृता

है । सुखरूप मुख्यार्थ का बाध श्रुति में घोषित किया गया है— "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" [अर्थात् मोक्षावस्था में शरीर-रहित आत्मा का सुख और दुःख दोनों स्पर्श तक नहीं करते] यह श्रुति-वाक्य अमुख्यरूप सांसारिक सुख का ही निषेध करता है— वेदान्तमत में यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वेदान्त में दो सुख नहीं माने जाते, लौकिक सुख भी उस परमानंद की ही एक झलक मात्र माना जाता है । विषयावच्छिन्न सुख का निषेध माननेपर सामान्य अर्थ में प्रयुक्त 'प्रिय' शब्द का विशेष अर्थ में संकोच मानना होगा; जिसमें कोई प्रमाण नहीं । 'आनन्दो ब्रह्म' (तै. उ. ३।६)—इस प्रकार की आनन्दश्रुति को उक्त संकोच में प्रमाण माना नहीं जा सकता, क्योंकि आनन्द-श्रुति को औपचारिक मानना होगा । आनन्द-श्रुति को मुख्यार्थक मानकर प्रिय-निषेध श्रुति को औपचारिक मानने पर संसारावस्था में आत्मा की आनन्दरूपता का अनुभव होना चाहिए । किन्तु होता नहीं, अतः मोक्ष अवस्था में अनित्य आनन्द की उत्पत्ति माननी होगी, तब नित्यानन्दाभिव्यक्तिरूप मोक्ष का व्याघात हो जाता है ।

वस्तुतः योग-ऋद्धि के बल पर सम्पादित चिरकाल उपभोग के योग्य सुखविशेष को यहाँ आनन्द शब्द वैसे ही कहता है, जैसे कि 'अनन्त' पद आपेक्षिक सुख की अन्तवत्ता को ध्यान में रखकर प्रयुक्त होता है, "अमराः देवा" आदि स्थलों पर अमर शब्द भी मनुष्य की अपेक्षा चिरस्थिरता रूप आपेक्षिक अमरता का बोध कराता है, जैसा कि वाचस्पतिमिश्र ने भी कहा है—"अपाम सोमम् अमृता अभूम" इति चामृतत्वाभिधानं चिरस्थेमानमुपलक्षयति" (सां. कौ. पृ. ९) । उसी प्रकार आनन्द-श्रुति भी आपेक्षिक आनन्द को कहती है । मोक्ष

देवा"—इतिवत् । न च प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, नित्यत्वे सुतरामनुपपत्तेः । न हि सिद्धस्य सम्पादनाय कश्चिद् यततेऽत्र । अवच्छेदनिवृत्त्यर्थमिति चेत्, तर्हि प्राप्ताप्राप्तविवेकिनोऽत्रावच्छेदनिवृत्तिरेव कृत्युद्देश्या, अन्यस्य विद्यमानस्याप्यतन्त्रत्वात् । न चैकनित्यसुखवादे कारणोपादानं घटते, तद्विशेषे तु कैव कथा ? न चैकस्यैवातिशयानतिशयौ शङ्काहौं, एकत्वव्याघातात् । अवच्छेदनिवृत्त्यर्थं कारणविशेषोपादानमिति वक्तव्यम्, तत्र च दुःखाभावस्य सुखत्वेनानुभवस्य निरतिशयत्वात्, तदनुपपत्तिरिति योऽयं दोष उक्तः, स समानः । तस्माद् दुःखाभावातिरिक्तसुखसाधनपर्यालोचनया जन्यमनित्यमनेकं चाभ्युपेयम् । न च तथाविधस्य मुक्तौ कथासम्भव इति ।

अवस्था में जन्य सुख के उद्देश्य से प्रवृत्ति सम्भव नहीं [क्योंकि "यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितः" (छां. उ. ८।१।६)]। इस श्रुति के आधार पर जन्य सुख का भी कभी नाश मानना होगा नश्वर सुख की लिप्सा में कोई भी जीव अपने वर्तमान सुख का परित्याग नहीं करना चाहेगा, अतः मुमुक्षा एवं मोक्ष के लिए प्रवृत्ति आदि सब कुछ असंघटित हो जाता है—ऐसी शङ्का उठाकर वेदान्ती यदि नित्य सुख की स्थापना करता है, तब यह कहना अनुचित न होगा कि नित्य सुख को सदैव सिद्ध मानना होगा, सिद्ध अर्थ की प्राप्ति के लिए कोई प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार नित्य सुख के लाभार्थ मोक्षार्थी की प्रवृत्ति कभी सम्भव नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि नित्य सुख के आवरण या अवच्छेदक अज्ञानरूप विशिष्ट अर्थ की निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति होती है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्राप्ताप्राप्त-विवेक के आधार पर अवच्छेदक मात्र की निवृत्ति को ही प्रवृत्ति का उद्देश्य मानना होगा, अन्य वस्तु के विद्यमान होने पर भी उसे प्रवृत्ति का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। एक नित्य सुखवाद में कारण-कलाप का उपार्जन भी सम्भव नहीं। अनावृत्त सुखविशेष की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति का समर्थन भी नहीं किया जा सकता। वेदान्ती एक सुखवाद के पक्षपाती हैं, तब उन्हें निरतिशय और सातिशय सुख-भेदों की कथा शोभा नहीं देती, क्योंकि इस प्रकार एकत्व का व्याघात हो जाता है। फलित अर्थ यही होता है कि अवच्छेदक, आवरण, अज्ञान या दुःख की निवृत्ति करने के लिए ही समस्त साधन-सम्पत्ति अपेक्षित होती है। उसी दुःख की निवृत्ति को वैशेषिक यदि परम पुरुषार्थ मानता है, तो अनौचित्य कैसा ? सुखलाभार्थ साधन-संपादन की अपेक्षा होने पर प्राप्य सुख को अनेक, जन्य और अनित्य मानना होगा, जिसकी मोक्ष में कोई भी दार्शनिक सम्भावना नहीं करता।

ज्ञानशब्दश्च ज्ञायतेऽस्मिन्नित्यधिकरणवाचकः। आनन्त्यं पुनरुभयान्ताभाव एव, तत्रैव लोकव्युत्पत्तेः। एकमिति च द्वैरूप्यनिराकरणपरम्, एकत्वसंख्यां वाऽऽचष्टे, लोके तत्रैव व्युत्पत्तेः, लोकावगतशक्तेश्च वेदे बोधकत्वात्। तस्माज्ज्ञानाश्रय आत्मेति सिद्धम्।

—: ० :—

६–आत्मनो नानात्वम्––

विवादाध्यासितं मयासम्बद्धं मूर्त्तत्वात्, मच्छरीरवद्––इति नित्यत्वानादित्वसर्वगतत्वसिद्धिः। तस्य चानेकत्वम्, व्यवस्थान्यथानुपपत्तेः। अनिर्वचनीयत्वे निराकृते जीवभेदेऽविप्रतिपत्तेश्च। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाक-

---

"सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म"—इस वाक्य में 'ज्ञान' पद ज्ञायतेऽस्मिन्—इस प्रकार की व्युत्पत्ति के आधार पर अधिकरणार्थक ल्युट्प्रत्यय से निष्पन्न माना जाता है। अनन्तपद' भी उभयाभाव (प्रागभाव और ध्वंस इन दोनों अन्तों के अभाव) को कहता है, क्योंकि लोक में अनन्त-पद का प्रयोग इसी अर्थ में होता है। "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (छां. उ. ६।२।१)—इस वाक्य में 'एकम्' पद द्विरूपता का निराकरण करता है अथवा एकत्व संख्या का बोधक माना जाता है—लोक में ऐसी ही व्युत्पत्ति देखी जाती है। लोक में जिस शब्द की शक्ति जिस अर्थ में निश्चित होती है, वह शब्द वेद में भी उसी अर्थ को कहा करता है [जैसा कि श्रीमण्डनमिश्र ने कहा है—'लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधकः (ब्र. सि. पृ. ८२)। अन्य आचार्यों ने भी कहा है—'ये एव लौकिकाः शब्दाः त एव वैदिकाः, सः एव च तेषां अर्थः'] इस प्रकार ज्ञान का आश्रय आत्मा है, यह सिद्धान्त स्थिर होता है।

—: ० :—

६–आत्मा का नानात्व—

[जीवात्मा की व्यापकता सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है—] विवादास्पद (मूर्त्तजगत्) मुझ (आत्मा) से सम्बन्धित होता है, क्योंकि वह मूर्त्त है, जैसा कि मेरा शरीर। इस अनुमान के द्वारा आत्मा में सर्वगतत्व और अनादित्व आदि की सिद्ध होती है। उस आत्मा को एक न मानकर शरीर के भेद से नाना मानना होगा, अन्यथा उच्चावचभाव की स्थापना न हो सकेगी। अनिर्वचनीयता-वाद का निराकरण हो जाने पर जीव के नाना होने में किसी प्रकार का

शीति ।" (मुण्ड. ३।१।१) इति श्रुतेः । अस्या अर्थः—द्वौ सुपर्णौ आत्मानौ सयुजौ = सह वर्तमानौ सखायौ = एककार्यकारित्वेन, समानं वृक्षम् = एकं शरीरं परिषस्वजाते = आलिङ्गितवन्तौ । तयोरात्मनोर्मध्ये एको = भोक्ता पिप्पलं स्वादु अत्ति = सुखविशेषं भुङ्क्ते । अनश्नन् अन्यः = अभोक्ता ईश्वरः अभिचाकशीति = सर्वतोऽत्यर्थं प्रकाशते. इति विस्पष्टो जीवब्रह्मणोर्भेदः । "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।" (श्वेता. ४।५) इतिवत् । न च श्रुतिप्रतीतोऽन्यथा भवितुमर्हति ।

कथं तर्हि "नेह नानास्ति किंचन" (बृह. ४।४।१९) इति, "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति" (कठ. ४।१०) इति च (लिङ्गात्).

विवाद नहीं रह जाता, श्रुति अत्यन्त विस्पष्ट रूप में आत्मभेद का प्रतिपादन करती है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ (मु. ३।१।१)

इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार है—ईश्वर और जीवरूपी दो पक्षी सयुज (सहचारी) सखा (एक कार्यकारी) एक ही शरीररूपी वृक्ष पर समारूढ हैं। उन दोनों में एक (भोक्ता जीव) सुखविशेष का आस्वादन करता है और दूसरा ईश्वर आत्मा अनासक्तभाव से विराजमान है। जीव और ब्रह्म का भेद इससे और अधिक स्पष्ट क्या होगा ? जीवों की अनेकरूपता का प्रतिपादन भी श्रुति के मुख से ही होता है—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥"

श्रुति-प्रतिपादित अर्थ कभी अन्यथा नहीं हो सकता । [उक्त श्रुति का अर्थ इस प्रकार है—शुक्ल (पुण्य), कृष्ण (पाप) एवं लोहित (रक्त या पुण्यापुण्य-मिश्रितकर्म) इन तीन भेदों से भिन्न अदृष्टराशिरूपी प्रकृति स्वर्गीय नारकीय एवं मानवीय त्रिविध जगत् की सर्जना करती है। जिसका उपभोग अनेक जीव अपने-अपने अदृष्टानुरूप करते हैं। उनमें एक अज (बद्ध जीव) उस प्रकृति का उपभोग करता है और दूसरा मुक्त जीव उस दुःखमय प्राकृत पारावार को सदैव के लिए पार करके अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, आचार्य उदयन ने कुसुमाञ्जलि में प्रकृति के रूप में अदृष्ट का ही रूपक माना है—"मूलत्वात् प्रकृतिः" (कुसु. १।२०)]।

नानात्वादर्शने तद्भावोपचारात् । न च सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते, न चात्र प्रयोजनमस्तीति वाच्यम्, नियमासिद्धेः । अज्ञातमुख्येषु यववराहादिषु गौणशब्दप्रयोगेषु तदभावात् । सत्ताबोधकलाक्षणिकगोशब्दे च, यथा गौर्वाहीकः । यथाहुर्वार्तिककाराः—

वहुजातिगुणद्रव्यकर्मभेदावलम्बिनः ।
प्रत्ययान् सहसाजातान् श्रौतलाक्षणिकात्मकान् ॥
न लोकः कारणाभावान्निर्धारयितुमिच्छति ।
बलाबलादिसिध्यर्थं वाक्यज्ञास्तु विविञ्चते ॥" (श्लो. वा. पृ. ५०४)

यदि आत्मा नाना हैं, तब "नेह नानास्ति किंचन"—यह श्रुतिवाक्य आत्मा के नानात्व का निषेध क्यों करता है और "सः मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"—यह श्रुति वाक्य नानात्व-दर्शन की निन्दा क्यों करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ज्ञानाधारत्वादि रूप से आत्मा में एकता स्थापित करने के लिए नानात्व-दर्शन के अभाव में श्रुति का औपचारिक प्रयोग हुआ है । किसी प्रयोजन या मुख्यार्थ के होने पर ही 'सिंहो माणवकः'—जैसे उपचार-प्रयोग देखे जाते हैं, किन्तु यहाँ किसी प्रकार का प्रयोजन न रहने पर उपचार-प्रयोग क्योंकर माना जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में इतना कह देना पर्याप्त है कि मुख्यार्थ की अपेक्षा का नियम नहीं होता, जैसा कि यव, वराह आदि वैदिक शब्दों का मुख्यार्थ अज्ञात होने पर भी दीर्घशूकवाले अन्न में 'यव' शब्द का एवं शूकर के अर्थ में 'वराह' शब्द का औपचारिक प्रयोग माना जाता है [यववराहाधिकरण (मी. द. १।३।५) में महर्षि जैमिनि, शबर स्वामी एवं कुमारिल भट्ट आदि विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि यव, वराह, नेमादि शब्दों का प्रयोग आर्य जाति किस अर्थ में करती थी—यह आज विस्मरण के गर्भ में है, अन्य जातियों के प्रयोगों के आधार पर इन शब्दों का गौण अर्थ ही निश्चित होता है] । इस प्रकार के गौण प्रयोगों में कोई प्रयोजन या मुख्यार्थ उपलब्ध नहीं होता, सत्त्वविशेष के बोधक लाक्षणिक 'गो' शब्द के प्रयोग में भी कोई निमित्त विशेष नहीं पाया जाता किन्तु "गौर्वाहीकः"—यह गौण प्रयोग पाया जाता है । जैसा कि वार्त्तिककार कुमारिलभट्ट ने कहा है—

वहुजातिगुणद्रव्यकर्मभेदावलम्बिनः ।
प्रत्ययान् सहसाजातान् श्रौतलाक्षणिकात्मकान् ॥
न लोकः कारणाभावान्निर्धारयितुमिच्छति ।
बलाबलादिसिद्ध्यर्थं वाक्यज्ञास्तु विविञ्चते ॥ (श्लो. वा. पृ.५०४)

अस्मदादिगौणप्रतीतेर्हि चिन्ता। वृद्धव्यवहारागतेषु गौणप्रयोगेषु कोऽयमाग्रहः, यथा सर्षपरसे तैलशब्दः ? मुख्येषु बाधकाभावात् कथमुपचार इति नाशङ्कनीयम्, प्रत्यक्षेण श्रुत्या च भेदप्रतीतेः। आत्मा द्रव्यत्वव्यतिरिक्तापरजात्याधारभेदेन नाना, अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात्, पृथिव्यादिवत्। तत्र न मूर्तत्वमुपाधिः, रूपादौ तदभावेऽपि साध्यानुगमदर्शनात्।

मकरन्दस्तु विवादपदानि शरीराणि, एकेनात्मनाऽऽत्मवन्ति, शरीरत्वात्, मच्छरीरवदिति। तस्य नित्यत्वम्। विशेषगुणा द्रव्यत्वेन साधनीयाः। तस्य

[अर्थात् विविध जाति, गुण द्रव्य और कर्म-भेद को विषय करने वाले सहसा उत्पन्न श्रौत लाक्षणिक रूप ज्ञानों को साधारण पुरुष निमित्त तथा प्रयोजन के अभाव में इदमित्थम् रूप से निश्चित नहीं कर सकता, अनादि काल से उनके लिए गौण-प्रयोग ही होते आए हैं। यव-वराहादि शब्दों के आर्य म्लेछ जाति में प्रचलित प्रयोगों का केवल बलाबल परखने के लिए वाक्य-प्रयोगों के विशेषज्ञ मीमांसकगण अपनी निश्चित प्रणाली के निकषोपल पर परीक्षणमात्र किया करते हैं]। हमलोगों के आधुनिक गौण प्रयोगों में भले ही प्रयोजन की चिन्ता हो किन्तु वृद्ध व्यवहार परम्परा-प्राप्त गौण-प्रयोगों में प्रयोजन की चिन्ता का यह आग्रह कैसा, जैसे कि सर्षप-प्रसूत द्रव्य के लिए 'तैल' शब्द का प्रयोग ? मुख्यार्थ में बाधक प्रमाण के न होने पर उपचार कैसे होगा ? इस प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्ष और श्रुति के आधार पर भेद की सिद्धि होती है। आत्म-भेद सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रयोग भी किया जाता है—] आत्मा, द्रव्यत्व की व्याप्य (आत्मत्व) जाति के भेद से भिन्न होता है, क्योंकि अश्रावण विशेष गुणों का आधार है, जैसे कि पृथिव्यादि। यहाँ मूर्त्तत्व उपाधि है [क्यों कि पृथिव्यादि में साध्य का व्यापक और आत्मा में साधन का अव्यापक है]-ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि रूपादि में साध्य रहता है किन्तु मूर्त्तत्व नहीं, अतः साध्य की व्यापकता उसमें बाधित है।

मकरन्दकार ने आत्मा के भेद का अनुमान इस प्रकार किया है—विवादास्पद शरीर एक-एक आत्मा से युक्त होते हैं, क्योंकि वे शरीर हैं हमारे शरीर के समान [द्र. न्यायमकरन्द पृ. २३]। इस अनुमान के द्वारा जो आत्मा सिद्ध होता है, वह नित्य होता है। उसमें विशेष गुणों की सिद्धि द्रव्यत्व हेतु के द्वारा कर लेनी चाहिये। जीवात्मा में चौदह गुण होते हैं—(१) बुद्धि, (२) सुख, (३) दुःख, (४) इच्छा, (५) द्वेष, (६) प्रयत्न, (७) धर्म (८) अधर्म, (९) भावना,

गुणाः— बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनासंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोग-विभागाः। प्रयत्नाश्रय आत्मा।

—:०:—

९–मनसो निरूपणम् –

विवादपदम् इन्द्रियजज्ञानविषयः, वस्तुत्वाद् घटवत्। विवादाध्यासितो मूर्तसंयोगासमवायिकारणकविशेषगुणाधारः, नित्यत्वे सति अनित्यविशेषगुणवत्त्वात्, पार्थिवपरमाणुवत्। न च तत्त्वमुपाधिः, त्वन्मते घटस्याप्यग्निसंयोगजविशेषगुणाधारत्वात्। न च पार्थिवत्वमुपाधिः, अपक्वनष्टघटे व्यभिचारात्। न चास्माकमाद्यमुपाधिः, नभसि तदभावेऽपि साध्यानुगमदर्शनात्।

---

(१०) संख्या, (११) परिमाण (१२) पृथक्त्व, (१३) संयोग और (१४) विभाग। आत्मा का लक्षण यह है—प्रयत्नाश्रयः आत्मा।

—:०:—

९. मन का निरूपण--

विवादास्पद (आत्मा) इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का विषय होता है, क्योंकि वस्तु है, जैसे—घट। विवादास्पद (आत्मा) किसी मूर्त द्रव्य के संयोग रूपी असमवायि-कारण से जनित विशेष गुणों का आधार होता है, क्योंकि नित्य है तथा अनित्य विशेष गुणों का आधार है, जैसे—पार्थिव परमाणु [आशय यह है कि जैसे पार्थिव परमाणु में अग्निरूप मूर्त द्रव्य के संयोग से रूपादि विशेष गुण उत्पन्न होते हैं, वैसे आत्मा में ज्ञानादि विशेष गुण जिस मूर्त द्रव्य के संयोग से समुत्पन्न होते हैं, वह मन है। इसी प्रकार के अनुमान का निराकरण पार्थसारथि मिश्र ने किया है—"अत्र कश्चित् नित्यद्रव्यगतविशेषगुणत्वात् सुखादीनां द्रव्यान्तरसंयोगजत्वम्, पार्थिवपरमाणुगतरूपादीनामग्निसंयोगजत्वदर्शनात्। यच्च द्रव्यान्तरम्, तन्मनः इत्याह। तन्न, शरीरसंयोगादेव सिद्धेः (शा. दी. पृ. ३६)]। यहाँ पार्थिव परमाणुत्व उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आप (पिठरपाक-वादी) के मत में घट भी अग्निरूप मूर्त्तद्रव्य के संयोग से जन्य विशेष गुणों का आधार होता है [वहां पार्थिव परमाणुत्व नहीं रहता, अतः साध्य का व्यापक नहीं]। पार्थित्व धर्म को भी उपाधि नहीं मान सकते, क्योंकि अपक्व नष्ट घट में पार्थिवत्व धर्म साध्य का व्यभिचारी होता है [जो घट पकने से पहले ही नष्ट हो जाता है, उसमें अग्नि-संयोग से जन्य विशेष गुणरूप साध्य नहीं रहता और पार्थिवत्व रहता है, अतः पार्थिवत्व साध्य का समव्याप्त न होने के कारण उपाधि नहीं हो सकता]।

मनः परमाणु, परविशेषगुणासमवायिकारणाश्रयत्वे सति नित्यत्वात्, तैजस-परमाणुवदिति केचित्। तन्न, स्पर्शवत्त्वे सति नित्यत्वोपाधेः। अणुत्वमात्रसाधने स्पर्शवदमहत्त्वमुपाधिः। मूर्तत्वमात्रसाधने च नित्यपदवैयर्थ्यम्। तद्व्यतिरिक्तस्य हेतुत्वे काशिकाकृतो मते स्पर्शवत्त्वमुपाधिः। तमोद्रव्यत्वपक्षे स्पर्शवत्त्वस्य तमस्येव साध्याव्यापकत्वे द्रव्यसमवायिद्रव्यत्वमुपाधिः। एतेन मनो मूर्तं विभुसंयोगित्वाद् घटवद् इत्यपि निरस्तम्, उक्तोपाधिकत्वात्।

सुखादयो मूर्तसंयोगासमवायिकारणकाः, अनित्यत्वे सति नित्यविशेषगुणत्वात्, पार्थिवपरमाणुरूपादिवदिति विभागजशब्दजशब्देनानैकान्तादसाधनम्। अशब्दत्वे सतीति विशेषणे परस्यैव वैयर्थ्यम्। मूर्तं मनः श्रोत्रव्यतिरिक्तेन्द्रियत्वादित्यपि निरस्तम्, पूर्वोक्तोपाधेः। अविभुत्वे च स्पर्शवत्त्वं साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक उपाधिः।

प्रथम (पार्थिव परमाणुत्व) धर्म हमारे (पीलुपाक-वादी के) मत से भी उपाधि नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश में पार्थिव परमाणुत्व का अभाव रहने पर भी भेरी-दण्डादि मूर्त्त पदार्थों के संयोग से जन्य शब्द विशेष गुणरूप साध्य रहता है, अतः साध्य का व्यापक न होने से वह उपाधि नहीं हो सकता।

कतिपय आचार्य ऐसा अनुमान-प्रयोग करते हैं—मन परमाणु परिमाणवाला होता है, क्योंकि परकीय विशेष गुणों के असमवायि-कारण (संयोग) का आश्रय है और नित्य है, जैसे—तैजस परमाणु। किन्तु वह अनुमान समीचीन नहीं, क्योंकि उसमें स्पर्शवत्त्व-युक्त नित्यत्व उपाधि है। परमाणु को छोड़कर अणुत्वमात्र सिद्ध करने पर स्पर्शवत्त्व-युक्त अमहत्त्व उपाधि है। मूर्त्तत्वमात्र सिद्ध करने पर 'नित्य' पद व्यर्थ हो जाता है। नित्यत्व को छोड़कर विशेष-गुणासमवायिकारणाश्रयत्वमात्र को हेतु बनाने पर काशिकाकार के मत से स्पर्शवत्त्व धर्म उपाधि होता है। तम को द्रव्य मानने वाले के मत से तम में स्पर्शवत्त्व न होने से साध्य का व्यापक नहीं होता, तब भी द्रव्यसमवायिद्रव्यत्व उपाधि है। इस लिए मन मूर्त्त होता है, क्योंकि वह विभु द्रव्य का संयोगी है, जैसे घट—यह अनुमान भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि यहां भी द्रव्यसमवायिद्रव्यत्व उपाधि है।

सुखादि, मूर्त्तद्रव्य-संयोगासमवायिकारणक होते हैं, क्योंकि अनित्य हैं और नित्य द्रव्य (आत्मा) के विशेषगुण हैं, पार्थिव परमाणुगत रूपादि के समान—यह अनुमान विभागज एवं शब्दज शब्द में अनैकान्तिक होने के कारण असाधन प्रयोग है। शब्द-भिन्नत्व विशेषण

एतेनाविभु नित्यद्रव्यत्वादित्यनेनामहत्त्वसाधनेऽणुत्वसाधने साध्याव्यापकत्वात् स्पर्शवत्त्वं नोपाधिरिति श्रीवल्लभोक्तं निरस्तम्। न च मनो विभु, १. सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात् (न्या. कु. ३।१), २. सदा विशेषगुणरहितद्रव्यत्वात्, ३. निरवयवेन्द्रियत्वात्, ४ द्रव्यानारम्भकनित्यद्रव्यत्वात्, ५ नित्येन्द्रियत्वाद्, ६. विज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारेन्द्रियत्वात्, ७. सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात्, ८. नित्यगुणग्राहकेन्द्रियत्वाद् ९. अभूतत्वे सत्यरूपित्वात्, कालवद्, आत्मवद्, आकाशवदिति सत्प्रतिपक्षदूषणे कथं स्वपक्षसिद्धिरिति वाच्यम्, मनसः सर्वगतत्वाभ्युपगमे आकाशकालातिरिक्तस्य साधयितुमशक्यत्वेन धर्मिग्राहकप्रमाणबाधाश्रयासिद्धयोरन्यतराक्रान्तत्वादिति स्पष्टतरमस्मन्न्यायलक्ष्मीविलासे। प्रथमस्य तमोद्रव्यत्ववादिनस्तत्रैवानैकान्तिकत्वम्। सर्वदेत्यस्य च व्यर्थत्वात्। एतेन द्वितीयतृतीये

जोड़ने पर शेष अंश व्यर्थ हो जाता है। इसी लिए मन मूर्त्तद्रव्य है, श्रोत्र से भिन्न इन्द्रिय होने के कारण—यह अनुमान-प्रयोग भी निराकृत हो जाता है, क्योंकि इसमें भी पूर्वोक्त (द्रव्यसमवायिद्रव्यत्व) उपाधि है। अविभुत्व-साधन करने पर स्पर्शवत्त्व धर्म साधनावच्छिन्न साध्य का व्यापक होने के कारण उपाधि है। अत एव मन अविभु होता है, नित्य द्रव्य होने के कारण—इस अनुमान-प्रयोग के द्वारा अमहत्त्व-साधन करने में साध्याव्यापक होने के कारण स्पर्शवत्त्व उपाधि नहीं है—इस प्रकार की श्रीवल्लभाचार्य (?) की युक्ति का निरास हो जाता है। यदि कहा जाय कि मनोगत अणुत्व परिमाण के विपरीत इस प्रकार का सत्प्रतिपक्ष किया जा सकता है—मन विभु होता है, क्योंकि १. सर्वदा स्पर्शरहित द्रव्य है, २. सदा विशेषगुण-रहित द्रव्य है, ३. निरवयव इन्द्रिय है, ४. द्रव्यानारम्भ नित्य द्रव्य है, ५. नित्य इन्द्रिय है, ६. विज्ञानासमाविकारण संयोग का आधार है, ७. सर्वदा स्पर्शरहित द्रव्य है, ८. नित्य-गुण-ग्राहक इन्द्रिय है, ९. अभूतत्वयुक्त अरूपि द्रव्य है, जैसे—काल, आत्मा, आकाश। अतः इस सत्प्रतिपक्ष दोष के रहते हुए अपना पक्ष (मनोऽणुत्ववाद) कैसे सिद्ध होगा ? तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि मन को विभु या सर्वगत मानने पर आकाश और काल से अतिरिक्त उसकी सिद्धि नहीं हो सकती एवं धर्मिग्राहक प्रमाण के द्वारा बाध तथा आश्रयासिद्धि—इन दोनों दोषों में से अन्यतर दोष अवश्य है। इसका विशेष स्पष्टीकरण हमारे (वादिवागीश्वराचार्य के) बनाये न्यायलक्ष्मीविलास नामक ग्रन्थ में किया गया है। प्रथम हेतु तमोद्रव्यत्ववादि के मत से तम में अनैकान्तिक है तथा 'सर्वदा'—यह विशेषण व्यर्थ भी है। इसी दोष से द्वितीय और तृतीय दोनों हेतु भी दूषित हो जाते हैं, सप्तम हेतु में भी विशेषण व्यर्थ है।

दूषिते, सप्तमेऽपि वैयर्थ्यम्, नवमेऽपि अरूपिपदस्य परं प्रति वैयर्थ्यम्, तमसोऽभावत्वात्। किं बहुना द्रव्यत्वावान्तरजात्यैन्द्रियासजातीयद्रव्यत्वमुपाधिः। १. स्पर्शरहितत्वे सति अणु मनः, २. विज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वे सति मूर्त्तं वा, ३. सुखग्राहकेन्द्रियं वा, ४. अण्विन्द्रियं वा, ५. ज्ञानजनकसंयोगाश्रयं जडं मनः, ६. ज्ञानासमवायिसंयोगाश्रयमिन्द्रियं वा। तस्य गुणाः —संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराः। एषां मूर्तत्वद्रव्यत्वाभ्यां सिद्धिः। १. समवायिकारणं द्रव्यम्, २. गुणवद् द्रव्यम्।

—: ० :—

नवम हेतु में अरूपित्व विशेषण वादि (वैशेषिक) के प्रति व्यर्थ है, क्योंकि वह अन्धकार को अभाव रूप मानता है। इन्द्रियासजातीयद्रव्यत्व धर्म उपाधि भी है। इन्द्रियासजातीयता द्रव्यत्वावान्तर जाति से विवक्षित है। [आचार्य उदयन ने भी कहा है—"मनोवैभववादिनामिदमसम्मतम्। तथा हि—मनो विभु सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात्, सर्वदा विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात्, नित्यत्वे सत्यनारम्भकद्रव्यत्वात्, ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वादित्यादेरिति चेन्न. सर्वेषामापाततः स्वरूपासिद्धत्वात्" (कुसु. ३।१) इसकी व्याख्या में आचार्य वरदराज ने मनोविभुत्ववाद कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त बताया है और कहा है कि प्रथम हेतु में आकाश, द्वितीय में दिक्काल, तृतीय में आकाशादि और चतुर्थ में आत्मा दृष्टान्त है। मानमनोहरकार ने उन चार हेतुओं से अतिरिक्त पाँच अन्य हेतुओं का भी संकलन कर कुल नौ हेतु प्रदर्शित किये हैं।]

मन का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—१. स्पर्शरहितत्वे सति अणु मनः २. विज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वे सति मूर्त्तं वा, ३. सुखग्राहकेन्द्रियं वा, ४. अण्विन्द्रियं वा, ५. ज्ञानाजनकसंयोगाश्रयं जडं मनः, ६. ज्ञानासमवायिसंयोगाश्रयमिन्द्रियं वा। मन में आठ गुण होते हैं—(१) संख्या, (२) परिमाण, (३) पृथक्त्व, (४) संयोग, (५) विभाग, (६) परत्व, (७) अपरत्व और (८) संस्कार। इन गुणों की सिद्धि मूर्त्तत्व और द्रव्यत्व हेतुओं के द्वारा की जाती है। [वैशेषिक-सम्मत समस्त नव द्रव्यों का निरूपण करने के पश्चात्] अन्त में द्रव्य का लक्षण किया जाता है—१. समवायिकारणं द्रव्यम्, १. गुणवद् द्रव्यम्।

—: ० :—

१०–तमस आलोकाभावमात्रत्वनिरूपणम्—

१. तमो नाम द्रव्यान्तरमस्ति । तदपि निरूपणीयमिति चेत्, न, प्रमाणासिद्धेः । नीलं तम इति प्रतीतिः प्रमाणमिति चेत्, नीलबुद्ध्यसिद्धेः । उक्तं च शालिकनाथेनापि—"अप्रतीतावेवायं प्रतीतिभ्रमो मन्दानाम्" (प्र. पं. पृ. ३२१) इति । कथं तर्हि पदप्रयोगः ? सिताभाववदुपचारात् । असितं नीलमिति लौकिकः प्रयोगः । मुख्ये वाधकाभावादिति चेत्, आलोकनिरपेक्षचक्षुषो रूपप्रत्ययजनकत्वासिद्धेः । कारणाभावे कार्यं जायते इति दुर्घटमेतत् । अन्यथा नीलघटस्यापि ग्रहणप्रसङ्गः । कथं तर्हि छायायां कृष्णसर्पभ्रम इति चेत्, दोषवशात् । पूर्वदृष्ट-

१०–अन्धकार आलोक का अभावमात्र है—

१. तम या अन्धकार भी दशम द्रव्य है द्रव्य प्रकरण में उसका भी निरूपण करना चाहिए—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि तम के द्रव्य होने में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि नीलं तमः'—यह प्रतीति ही प्रमाणित करती है कि तम द्रव्य है [क्योंकि रूप एक ऐसा गुण है, जो कि द्रव्य में ही रहा करता है; नीलिमा भी एक रूप विशेष है, अतः उसका आधार कोई द्रव्य ही होना चाहिए]। तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि नील-प्रतीति ही नहीं होती, जैसा कि आचार्य शालिकनाथ मिश्र ने कहा है—'अप्रतीतावेवाऽयं प्रतीतिविभ्रमो मन्दानाम्'—[अर्थात् अन्धकार में नील-प्रतीति वस्तुतः नहीं होती, केवल अबोध प्राणियों को भ्रममात्र हो जाता है।] प्रतीति के विना नील पद का प्रयोग क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह प्रयोग मुख्य नहीं, शुक्लता के अभाव में औपचारिक मात्र है। लोक में अशुक्ल वस्तु को प्रायः नील कह दिया जाता है। मुख्य-प्रयोग में बाधक होने पर ही औपचारिक या गौण-प्रयोग माना जाता है. किन्तु यहां कोई बाधक उपलब्ध नहीं है, अतः उक्त प्रयोग गौण नहीं कहा जा सकता—इस अक्षेप के उत्तर में इतना कह देना आवश्यक समझा जाता है कि चक्षु-इन्द्रिय आलोक की सहायता के विना नीलादि रूप का ग्राहक नहीं होता। आलोक की उपस्थिति में तम या तम का नील रूप प्रतीत ही नहीं होता। जब कि रूप-प्रतीति का कारण ही नहीं, तब विना कारण के रूप-प्रतीति का होना अत्यन्त दुर्घट है। आलोक न रहने पर यदि नील तम दिखाई देता है तो नील घट भी दिखाई देना चाहिए। छाया की पतली रेखा में नील सर्प का भ्रम क्यों होता है.? इस प्रश्न का उत्तर है–दोष के कारण। पूर्वदृष्ट कृष्ण सर्प के अध्यारोप का कारण (दोष) उपस्थित होने पर काले साँप का भ्रम हो जाता

कृष्णसर्पध्यारोपको दोषः इति । किमत्र सादृश्यमिति चेत्, सिताभावत्वम् । न चैवमतिप्रसङ्गः, सादृश्यमात्रस्यैव भ्रान्तिज्ञानसामग्रीत्वासिद्धेः । उपयुज्यन्ते हि विशेषादर्शनादयोऽपि आलोकाभावसहकारिणो धर्मादयोऽपि वक्रदीर्घावयवीन्द्रिय-संयोगादयश्च दोषाः ।

२. मानसमेव वा स्वप्नविभ्रमादीति केचित् । न चैवमतिप्रसङ्गः, चाक्षुषालोकाभावे करितुरगादिस्मरणविशेषस्यापि तत्र हेतुत्वाभ्युपगमान्नातिप्रसङ्गः । एतेन संख्याक्रियादिप्रतीतिरपि निरस्ता, तत्रैव विप्रतिपत्तेः । शब्दप्रयोगस्योपचारेणाप्युपपत्तेः । लौकिकव्यवहारस्य च सम्मुग्धत्वात् ।

३. एकदेशिनः पुनर्नीलप्रतीतिमभ्युपगम्य भ्रान्तत्वमाचक्षते । यथाहुः- अञ्जन-

---

है। यहां सादृश्य क्या है ? [प्रश्नकर्त्ता का आशय है कि शुक्ति में रजत-भ्रम के जनक दोषों में सादृश्य भी एक दोष पाया जाता है। शुक्ति में चांदी के भ्रम का मुख्य कारण चांदी-जैसा चमकीलापन होता है। उसी प्रकार काला साँप और छाया की पतली रेखारूपी अन्धकार में कृष्णरूपता का सादृश्य माने विना छाया में सर्प-भ्रम नहीं हो सकता, अतः छाया या अन्धकार में कृष्ण रूप वस्तुतः मानना होगा, भ्रम नहीं] । इस प्रश्न का उत्तर है—शुक्लता का अभाव। फिर तो शुक्लता के न रहने पर पीतादि की रेखा में भी कृष्ण सर्प का भ्रम होना चाहिए—यह अतिप्रसंग तब दिया जा सकता था, जब कि भ्रम का हेतु केवल सादृश्य ही होता, किन्तु विशेषादर्शन, आलोकाभाव, धर्मादि एवं वलयित या प्रलम्बाकार, वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि सामग्री के रहने पर सर्प-भ्रम होता है। सम्पूर्ण सामग्री के न होने से पीत-रेखा में सर्प-भ्रम नहीं होता।

२. कुछ विद्वानों का कहना है कि भ्रम और स्वप्न आदि का ज्ञान केवल मानस होता है। उसमें भी केवल मन ही कारण नहीं होता, अपितु चाक्षुष आलोकाभाव, करि- तुरगादि का स्मरण भी सहायक माना जाता है, अतः किसी प्रकार के अतिप्रसंग की सम्भावना नहीं रह जाती। इसी प्रकार अन्धकार में संख्या और चलनादि क्रिया की प्रतीति भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि वह प्रतीति भ्रममात्र है और शब्द-प्रयोग केवल उपचार के आधार पर हो जाता है। लौकिक व्यवहार सन्दिग्ध होता है, उसके आधार पर किसी प्रकार का निर्णय नहीं लिया जा सकता।

३. वैशेषिकों का एक वर्गविशेष (कन्दलीकार आदि) नील-प्रतीति को स्वीकार करके, उसे भ्रान्त प्रतीति कहा करते हैं। [श्रीमाधवाचार्य

पुञ्ज इव श्यामं शार्वरं तम इति भ्रान्तिप्रकरणे तत्र प्रतिभासिकबाधानुपपत्तेः। अनेनापहृतविषयत्वेनानुत्थानाद् बाधकनिरूपणं दुर्घटमिति पश्यामः।

४. शब्देन विना प्रतीतिसाधनं च। तमःशब्दस्य तर्हि कोऽर्थं इति चेत्, उभयवादिप्रतिपन्न आलोकसंसर्गाभावः। आलोकविशेषे सत्यपि आलोकान्तराभावस्यापि सम्भवात् प्रयोगप्रसङ्ग इति चेत्, तत्र किमालोकाभावप्रयोगोऽस्ति, न वा? अस्ति चेत्, तमःशब्दप्रयोगोऽप्यस्तु, का नो हानिः? पर्यायशब्दत्वात्। अथ यथा

ने तम के विषय में मतवादों का संग्रह इस प्रकार किया है—"द्रव्यं तम इति भाट्टा वेदान्तिनश्च भणन्ति। आरोपितं नीलरूपमिति श्रीधराचार्याः। आलोकज्ञानाभावः इति प्राभाकरैकदेशिनः। आलोकाभाव इति नैयायिकादयः" (सर्व. सं. पृ. २२८)। अर्थात् तम को भाट्ट और वेदान्तिगण द्रव्य मानते हैं, वैशेषिक-एकदेशी श्रीधराचार्य आलोकाभाव में आरोपित नीलरूप को तम कहते हैं, शालिकनाथ आदि प्राभाकर जन तम को आलोक के ज्ञान का अभाव, एवं नैयायिक तम को आलोकाभाव मानते हैं। न्यायकन्दली में श्रीधराचार्य का वक्तव्य है—"तस्मान्नाभावोऽयम्। न चालोकादर्शनमात्रमेवैतत्, बहिर्मुखतया तम इति, छायेति च कृष्णाकारः प्रतिभासनात्। तस्माद्रूपविशेषोऽयमत्यन्तं तेजोऽभावे सति सर्वतः समारोपितस्तम इति प्रतीयते॥" (न्या. कं. पृ. २४)। अर्थात् तम न तो अभावमात्र है और न आलोकदर्शन का अभावमात्र, क्योंकि बाहर स्पष्टरूप से 'तमः छाया'—ऐसी प्रतीति होती है। अतः आलोक के अभाव में सर्वतः आरोपित रूपविशेष ही तम रूप से प्रतीत होता है। श्रीचित्सुखाचार्य ने मानमनोहर की चुटकी लेते हुए कहा है—"न चाप्रतीतावेवायं प्रतीतिभ्रमस्तद्व्यवहारस्य तत्प्रतीतिमन्तरेणानुपपत्तेः" (त. प्र. पृ. २९)]। इस विषय में कहा गया है—'अञ्जनपुञ्ज इव श्यामं शार्वरं तमः इति भ्रान्तिः।' प्रातिभासिक प्रतीति में किसी प्रकार का बाधक प्रतीत नहीं होता, इस प्रकार उक्त तम का साधक अनुमान बाधित हो जाता है।

४. 'तमः' इस प्रकार के शब्द-प्रयोग का अर्थ होता है—उभयवादिसम्मत आलोक-संसर्गाभाव। यहां शङ्का होती है एक आलोक के रहने पर भी दूसरे आलोक का अभाव भी संभावित है। अतः वहां पर भी तमः शब्द का प्रयोग होना चाहिए, इस शङ्का का समाधान करने के लिए जिज्ञासा होती है कि वहां आलोकाभाव का प्रयोग होता है, अथवा नहीं? यदि होता है, तब 'तमः' शब्द का भी प्रयोग होने पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं, क्योंकि 'तमः' और 'आलोकाभावः' दोनों पद पर्याय शब्द हैं और यदि प्रथम दीप-ज्वाला का नाश हो

ज्वालाया आशुतरविनाशित्वेन मध्ये विनाशे विद्यमानेऽपि तत्सदृशज्वालोत्पत्त्या तिरोहितत्वात् न नाशव्यवहारः, तदालोके सत्यालोकान्तराभावस्य तिरोधानान्न तदभावव्यवहार इति। लौकिकप्रतीतिस्तु भ्रमत्वेनोच्यते। तत् तुल्यं ते तर्ककर्कशमतेरप्युक्तपरिहारः। चक्षुरालोकासहकृतं रूपिग्राहकं द्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वात्, त्वग्वदिति वादिनः कालग्राहकघ्राणेनानैकान्तिकं व्यर्थविशेषणता च। चक्षुरालोकनिरपेक्षं द्रव्यं गृह्णाति, इन्द्रियत्वादिति साधने घ्राणेन प्रतिवादिनाऽनैकान्तिकता विवक्षिता—साधकत्वं च। न हि तव तथाविधं तम एवेति लक्षणं कालादेरपि आलोकनिरपेक्षेन्द्रियग्राह्यत्वात्।

५. आलोकाभावस्योभयवादिसम्प्रतिपन्नत्वात् तमःशब्दवाच्यत्वे नास्ति विप्रतिपत्तिर्नात्र प्रकरणं वाच्यम्। विवादाध्यासितः आलोकभावः तमःशब्दवाच्यः, इतरेतराभावव्यतिरिक्तालोकाभावत्वात्। यदित्थं न भवति, तदित्थमपि न भवति,

---

जाने पर तुरन्त द्वितीय दीप-ज्वाला के उत्पन्न हो जाने के कारण जैसे मध्य में प्रकाशाभाव की प्रतीति नहीं होती, वैसे आलोकाभाव का ज्ञान एवं प्रयोग यदि नहीं होता, तब 'तमः' शब्द का भी प्रयोग क्यों होगा? अर्थात् विद्यमान आलोक के द्वारा आलोकान्तर का अभाव तिरोहित हो जाता है, अतः न उसकी प्रतीति होती है और न उसके लिए किसी शब्द-प्रयोग की आवश्यकता होती है। लौकिक प्रतीति को भ्रममात्र माना जाता है। वही परिहार उस तर्क-कर्कश निपुण वादि के लिए भी किया जा सकता है, जो यह कहता है—चक्षु आलोक से असहकृत होकर भी रूपी द्रव्य का ग्राहक होता है, क्योंकि वह रूपी द्रव्य का ग्राहक है, जैसे—त्वग् इन्द्रिय। उसका यह अनुमान काल द्रव्य के ग्राहक घ्राणेन्द्रिय में व्यभिचरित एवं व्यर्थविशेषणता दोष से ग्रसित भी है [क्योंकि अलौकिक सन्निकर्ष के आधार पर गुणमात्र का ग्राहक इन्द्रियवर्ग भी द्रव्य का ग्राहक माना जाता है। जब सभी इन्द्रिय द्रव्य ग्रहण की क्षमता रखते हैं, तब द्रव्यग्राहक यह विशेषण निरर्थक ही कहा जायेगा। उक्त विशेषण का परित्याग करके यदि अनुमानप्रयोग किया जाता है—चक्षु आलोक निरपेक्ष होकर द्रव्य का ग्राहक होता है, क्योंकि वह इन्द्रिय है; तो उस प्रयोग में प्रयुक्त इन्द्रियत्व हेतु घ्राण में भी व्यभिचरित है, क्योंकि वह आलोकनिरपेक्ष होकर कालादि का भी ग्राहक माना जाता है।

५. आलोकाभाव उभय-सम्मत है, अतः उसमें 'तमः' शब्द की वाच्यता निर्विवाद रूप से सिद्ध की जा सकती है—विवादास्पद आलोकाभाव तमः शब्द का वाच्य होता है, क्योंकि इतराभाव-भिन्न आलोकाभाव है, जो ऐसा नहीं होता, वह वैसा भी नहीं होता, जैसे कि आलोक।

यथालोक एव । अन्ये तु तम आलाकाभाव:, आलोकानपेक्षचक्षुषि सत्येवासति च लिङ्गादौ गृह्यमाणत्वात्, सम्प्रतिपन्नालोकाभाववदिति ब्रुवते । तत्र कौ पक्षसपक्षौ ? भिन्नाभिन्नाविति चिन्तनीयमिति । योगिमानसग्राह्यत्वाच्चावधारणासम्भवेन हेत्वसिद्धिश्च । तस्मादेवं प्रयोगक्रम: – तम:पदम् आलोकाभाववाचकम्, आलोकानपेक्षचक्षुर्ग्राह्यवाचकत्वाद्, आलोकाभावपदवत् ।

निरूपितो द्रव्यपदार्थ एष,
नवप्रकारो मुदमातनोतु ।
नवात्मकस्य त्रिदशाधिपस्य,
त्रिलोकपूज्यत्रिपुरान्तकस्य ॥

इति श्री मानमनोहरे द्रव्यपदार्थः

अन्य आचार्य इस प्रकार अनुमान-प्रयोग करते हैं—तम आलोकाभाव होता है, क्योंकि आलोक-निरपेक्ष चक्षु के रहने पर एवं अन्य लिङ्गादि के न होने पर गृहीत होता है, जैसे कि आलोकाभाव । इस अनुमान-प्रयोग में पक्ष और सपक्ष भिन्न हैं, अथवा अभिन्न ? यह विचारणीय है । योगी का मानस-ज्ञान भी उसका ग्राहक होता है, अतः हेतु का विशेषण (असति लिङ्गादौ) असिद्ध होने से हेत्वसिद्धि दोष है, इस लिए यहां ऐसा प्रयोग-क्रम होना चाहिए—'तमः' पद आलोकाभाव का वाचक होता है, क्योंकि आलोक-निरपेक्ष चक्षु के द्वारा ग्राह्य अर्थ का वाचक है, जैसे–'आलोकाभव' पद ।

द्रव्यप्रदीपो नवरोचिषां चयः,
न्यरूपि नीराजनया नवानाम् ।
शिवं शिवानामधिगन्तुमीशात्
त्रिकत्रयालिङ्गितनिश्रितानाम् ॥

मानमनोहर ग्रन्थ में द्रव्यपदार्थ का निरूपण समाप्त ।

(३)

गुण-प्रकरणम्

१–४ रूपरसगन्धस्पर्शाणां निरूपणम्—

१. प्रत्यक्षं रूपे प्रमाणम्। विवादपदं घटोत्पत्त्यनन्तरकाले जायते, घटगुणत्वात्, सम्प्रतिपन्नघटसंयोगवत्। न च सामान्यगुणत्वमुपाधिः, तद्गतपरिमाणादोनामपि पश्चादुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

२. विवादपदं कार्यं पार्थिवविशेषगुणत्वाद्, घटरूपवत् न च कार्यगतत्वमुपाधिः, परमाणुसंयोगसंस्काराद्यव्यापनात्।

३. विवादपदं कार्यं संख्यापरिमाणपृथक्त्वगुरुत्वसंस्कारव्यतिरिक्तत्वे सति पार्थिवगुणत्वात् पार्थिवपरमाणुसंयोगवत्।

---

(३)

गुण-प्रकरण

१-४–रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का निरूपण—

१. रूप गुण के सद्भाव में प्रत्यक्ष प्रमाण है। [रूप की उत्पत्ति के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है–] विवादास्पद (रूपादि) घट की उत्पत्ति के अनन्तर उत्पन्न होता है, क्योंकि घट का गुण है, जैसे—सम्प्रतिपन्न घट-संयोग। इस अनुमान में सामान्यगुणत्व उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि घटगत परिमाणादि की उत्पत्ति भी पश्चात् माननी पड़ेगी।

२. [पार्थिव परमाणु में रूपादि गुणों को जन्य सिद्ध किया जाता है—] विवादास्पद (पार्थिव परमाणुगत रूपादि) कार्य (जन्य) होता है, क्योंकि पार्थिव विशेषगुण है, जैसे—घटगत रूप। यहां कार्यगतत्व धर्म को उपाधि नहीं माना जा सकता क्योंकि परमाणु गत संयोग संस्कारादि में कार्यत्व रहने पर भी कार्यगतत्व रूप उपाधि नहीं है, अतः उसमें साध्य की व्यापकता नहीं वनती।

३. [पार्थिव परमाणुगत रूपादि में कार्यता सिद्ध करने के लिए दूसरा अनुमान-प्रयोग किया जाता है–] विवादास्पद (पार्थिव परमाणुगत रूपादि) कार्य होता है, क्योंकि संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, गुरुत्व और संस्कार से भिन्न पार्थिव गुण है, जैसे–पार्थिव परमाणुगत संयोग।

४. विवादपदम् अग्निसंयोगजविशेषगुणवद्, अनित्यविशेषगुणवत्त्वे सति नित्यत्वाद् आत्मवत् ।

५. विवादपदम् अवयव्याश्रयकाले न रूपजनकम् आश्रयत्वात्, जलाणुवत् ।

६. विवादपदम् आश्रयनाशनाश्यमानकार्यव्यतिरिक्तगुणाश्रय:, गुणवत्वात्, समवायिकारणत्वाद् आत्मवत् ।

७. रूपत्वम् अनाश्रितेऽपि समवेतम्, रूपजातित्वात्, सत्तावत् ।

८ विवादाश्रयोऽनेकरूपाधिकरणं न भवति, अवयवित्वात्, शुक्लतन्तुवत् । विवादपदं न नीलत्वाधिकरणम्, पीतारब्धत्वात् । विवादपदं न पीतत्वाधिकरणम्, नीलारब्धत्वात्, पीतवत् नीलवच्च ।

---

४. [पार्थिव परमाणुगत रूपादि में पाकजत्व सिद्ध किया जाता है–] विवादास्पद (पार्थिव परमाणु) अग्नि-संयोग से जन्य विशेष गुण का आश्रय होता है, क्योंकि अनित्य विशेष गुणों का आधार एवं नत्य होता है, जैसे—आत्मा ।

५. [पीलुपाकवाद सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है—] विवादास्पद (पार्थिव परमाणु) द्व्यणुकादि, अवयवी के विद्यमान रहते रूप का जनक नहीं होता, क्योंकि आश्रय है, जैसे- जलीय परमाणु ।

६. [पार्थिव परमाणुओं में रूपान्तर की उत्पत्ति सिद्ध की जाती है—] विवादास्पद (पार्थिव परमाणु) द्व्यणुकादि आश्रय के नाश से नाश्यमान कार्य से व्यतिरिक्त गुण का आश्रय होता है, क्योंकि गुणवान् समवायिकारण है, जैसे-आत्मा ।

७. रूपत्व अनाश्रित रूप में भी समवेत होता है, क्योंकि रूप-गत एक जाति है, जैसे--सत्ता ।

८. [घटादि में एक रूप के रहने पर रूपान्तर की उत्पत्ति नहीं हो सकती—यह सिद्ध किया जाता है--] विवादास्पद (घटादि) अनेक रूपों का आधार नहीं होता, क्योंकि अवयवी है, जैसे—शुक्ल रूपवाला तन्तु । [नील और पीत तन्तुओं से निर्मित पट में एक चित्र रूप माना जाता है—यह सिद्ध करते हैं—] विवादास्पद (पटादि) नील-गुण का आधार नहीं होता, क्योंकि पीत तन्तुओं से आरब्ध है। इसी प्रकार विवादास्पद (पटादि) पीतगुण का आधार नहीं होता, क्योंकि नील तन्तुओं से जन्य होता है, जैसे—पीत या नील । अतः ऐसे पट में चित्ररूप होता है, नील पीतादि अनेक रूप एक द्रव्य में नहीं रह सकते।

९. विवादपदं पीतत्वाधिकरणम्, पीतारब्धत्वात्, पीतवदिति चेत् न; विरुद्धजातिसमावेशेन बाधितत्वात्, अन्यथा विवादपद गोत्वाधिकरणम्, पार्थिवादित्यपि स्यात् । रूपत्वावान्तरपीतत्वव्यतिरिक्तजात्यनाश्रयरूपत्वं चोपाधिः । एतेन शुक्लं रूपमेकमेवेति निरस्तम्, तरतमभावस्यापि दृष्टेः ।

१०. नित्यत्वे सत्यनेकार्थे वर्तमानत्वात् सामान्यमित्युक्तं स्यात्, तस्य च यावद्द्रव्यभावित्वात् । पाकजेषु रक्तप्रत्ययो दुर्घटः । तदनेकप्रकारम् । गुणत्वे सति चक्षुःस्पर्शनयोर्मध्ये चक्षुषैव ग्रहणार्हं रूपम् । एतेन रसगन्धस्पर्शा अपि निरूपिताः । चित्रा अपि तेऽवगन्तव्याः ।

११. गुणत्वे सति रसनग्राह्यो रसः ।

१२. गुणत्वे सति घ्राणग्राह्यो गन्धः ।

---

९. विवादास्पद (पटादि) पीत गुण का आधार होता है, क्योंकि पीत तन्तुओं से आरब्ध है, जैसे कि केवल पीत तन्तुओं से आरब्ध पट—इस प्रकार का विपरीतानुमान संभव नहीं, क्योंकि विरुद्ध जातियों के समावेश से सुन्दोपसुन्द-उपघात के समान समस्त जातियों का उपघात हो जायगा। रूप में कोई भी जाति नहीं रह सकेगी। अन्यथ विवादास्पद (पटादि) गोत्व जाति का आधार होता है, क्योंकि वह पार्थिव है, जैसे कि गोपिण्ड, इस प्रकार का भी अनुमान होने लगेगा। उक्त अनुमानमें पीतत्व-भिन्न, रूपत्व-व्याप्य जातिकी अनाश्रयता उपाधि भी है। इसी प्रकार शुक्लरूप एक प्रकार का ही होता है—यह नियम भी निरस्त समझना चाहिए, क्योंकि शुक्लरूप में तर-तम-भाव देखा जाता है [अर्थात् कोई पट शुक्ल, कोई शुक्लतर और कोई शुक्लतम। अनुभव में आता है ।

१०. [यदि रूपगत अनुभूयमान तर-तम-भाव की उपेक्षा कर जलीय परमाणुगत रूप के समान रूपमात्र को नित्य मान लिया जाय, तब उसे गुण न कह कर सामान्य कहना होगा क्योंकि] सामान्य का लक्षण 'नित्यत्वे सति अनेकार्थे समवेतत्वम्' किया जाता है। किन्तु रूप यावद्द्रव्यभावी होता है, नित्य नहीं। रूप अनेक प्रकार का होता है और वह रूप चक्षु एवं त्वगिन्द्रिय में से केवल चक्षु के द्वारा गृहीत होता है। इसी प्रकार रस गन्ध और स्पर्श भी निरूपित हो जाते हैं अर्थात् चित्ररूप के समान रस, गन्ध और स्पर्श भी चित्र होते हैं।

११. रस का लक्षण है—गुणत्वे सति रसनग्राह्यः ।

१२. गन्ध का लक्षण है—गुणत्वे सति घ्राणग्राह्यः ।

१३. पृथिवी स्पर्शवती रूपित्वात्, तेजोवत् । विवादपदं स्पर्शवद्, द्रव्यारम्भकत्वात्, तेजोवत् ।

१४. चक्षुःस्पर्शनयोर्मध्ये स्पर्शनेनैव ग्राह्यो गुणः स्पर्शः ।

—:०:—

५-६ संख्यापृथक्त्वयोः (एकत्वैकपृथक्त्वयोः) निरूपणम्—

१. स्पर्शवद्गुणासमवायिकारणाद्विष्ठगुणयोराश्रयः, द्रव्यत्वाद् मूर्तत्वात्, पटारम्भकतन्तुवत् । न च स्पर्शवत्त्वमुपाधिः, स्पर्शवतां घटादीनामपि तथाविधगुणद्वयाश्रयत्वप्रसङ्गात् । न च द्रव्यासमवायिकारणत्वमुपाधिः, विशेषणवैयर्थ्यात् । निरुपा-

---

१३. रुप के द्वारा स्पर्श का अनुमान किया जाता है—पृथिवी स्पर्शवाली होती है, रूपयुक्त होने के कारण, तेज के समान । विवादास्पद (पृथिव्यादि चार भूतों के परमाणु) स्पर्श गुणवाले होते हैं, क्योंकि वे द्रव्यारम्भक हैं, जैसे तेज ।

१४. स्पर्श का लक्षण—चक्षुस्त्वगिन्द्रियोर्मध्ये त्वगिन्द्रियेणैव ग्राह्यो गुणः स्पर्शः ।

—:०:—

५-६—संख्या और पृथक्त्व का निरूपण—

१. [एकत्व तथा एकपृथक्त्व की सिद्धि की जाती है] विवादास्पद (आकाश) स्पर्शवद् द्रव्यवृत्ति गुणों के असमवायिकारणीभूत, अद्विष्ठ गुणों का आश्रय होता है, क्योंकि द्रव्य है या भूत है, जैसे—पटारम्भक तन्तु [आरम्भवादमें किसी द्रव्य का आरम्भ (उत्पत्ति) एक द्रव्य से नहीं होती, अपि तु अनेक द्रव्यों से होती है । पट का आरम्भ जिन अनेक तन्तुओं से होता है, उनमें रूपादि गुण ऐसे हैं जो पटगत रूपादि के असमवायिकारण भी हैं और अद्विष्ठ भी, किन्तु आकाश में कुल छः गुण रहते हैं—(१) शब्द (२) संख्या, (३) परिमाण, (४) पृथक्त्व, (५) संयोग और (६) विभाग । इनमें शब्द और परिमाण (परम महत्व) किसी स्पर्श वद्द्रव्यगत गुणों के असमवायिकारण नहीं होते । संयोग, विभाग, द्वित्व, द्विपृथक्त्वादि गुण अद्विष्ठ नहीं हैं, अतः परिशेषतः एकत्व और एकपृथक्त्व इन दो गुणों को मानने पर ही आकाश में कथित साध्य का समन्वय हो सकता है । शब्दादि की व्यावृत्ति करने के लिए स्पर्शवद्गुणासमवायिकरणत्व तथा संयोगादि की निवृत्ति के लिए अद्विष्ठत्व विशेषण दिया गया है । [मानमनोहर-

धिकस्य साध्यपरित्यागे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात्। तत्राकाशादिषु यौ गुणौ, तयोरेकम्—एकत्वम्, अपरम्—एकपृथक्त्वम्। अन्यत्रापि तौ पूर्वोक्तहेतोरेव साध्यौ।

२. विप्रतिपन्नः संयोगः स्वतोऽधिकवृत्तिकार्यैकार्थसमवेतत्वार्हः, संयोगत्वात्, त्रितन्तुकारम्भकसंयोगवत्।

कार को यहां 'विचाराध्यासित; पद से आकाश ही सम्मत है—इस का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीचित्सुखाचार्य उक्त अनुमान का अनुवाद करते हैं—"आकाशः स्पर्शवद्गुणासमवायिकारणाद्विष्ठगुणयोराश्रयः, द्रव्यत्वाद्भूतत्वाद्वा, पटारम्भकतन्तुवत्" (चित्सु. पृ. २९४)]। इस अनुमान में स्पर्शवत्त्व धर्म पटारम्भक तन्तुओं में साध्य-व्यापक और आकाश में साधनाव्यापक होने के कारण उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि साध्य-समव्याप्त धर्म को उपाधि माना जाता है, अतः स्पर्शवत्त्व धर्म के द्वारा कथित साध्य घटादि अन्त्यावयवी द्रव्यों में भी सिद्ध होने लगेगा, किन्तु घटादि गत रूपादि गुण किसी के असमवायिकारण नहीं होते, क्योंकि घट अन्तिम अवयवी है. उससे द्रव्यान्तर का आरम्भ नहीं माना जाता। द्रव्यसमवायिकारणत्व को उपाधि मानने पर व्यर्थविशेषणता दोष है [क्योंकि आकाशरूप पक्ष में साध्याभाव की सिद्धि केवल द्रव्य-कारणता के अभाव से सिद्ध हो जाती है। द्रव्य समवायिकारणता का अभाव अपेक्षित नहीं। आकाश अन्यथा सिद्ध होने के कारण किसी द्रव्य का कारण नहीं माना जाता]। निरुपाधिक हेतु का स्वभाव है कि नियमतः साध्याव्यभिचरित होता है। हेतु के इस स्वभाव की उपेक्षा कर देने पर भावमात्र के स्वभाव का परित्याग करना होगा] जो कि सम्भव नहीं। वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः।
स्वभावविनिवृत्तोऽर्थो निःस्वभावः खपुष्पवत्॥

(बृह.वा.पृ. २५)]

अतः उक्त हेतु के द्वारा आकाश में जो दो गुण सिद्ध होते हैं, उनमें पहला गुण-एकत्व संख्या और दूसरा गुण-एकपृथक्त्व होता है। अन्यत्र भी वे दोनों गुण पूर्वोक्त हेतुओं के द्वारा सिद्ध किये जा सकते हैं—

२. विवादास्पद संयोग, अपने से अधिक देश में रहने वाले कार्य के साथ एक ही आधार में समवेत होता है, क्योंकि संयोग है, जैसे—तीन तन्तुओंवाले पट के आरम्भक तन्तु-संयोग।

३. परमाणवः संयोगाधिकवृत्तिकार्यसमवायिकारणम्, अणुत्वाद्, द्व्यणुकवत् ।

४. विप्रतिपन्नोऽवयवी कारणत्वार्हेण सह तुल्याश्रयः, अवयवित्वाद्, द्व्यणुकवद् द्वितन्तुकवच्च । रूपादीनामेकाश्रयवृत्तित्वात्, संयोगस्य द्विष्ठत्वात् त्रिचतुरारब्धत्वान्न सिद्धसाधनता । अनेनैव पथा परिमाणसिद्धिरपि ।

२–अनेकत्वानेकपृथक्त्वयोः सिद्धिः—

१. विवादाध्यासितो बुद्धिजगुणयोराश्रयः, द्रव्यत्वात् समवायिकारणत्वाद्, आत्मवत् । न चात्मत्वमुपाधिः, ईश्वरे व्यभिचारात् । अत्रैकम्—अनेकत्वसंख्या, अपरम्—अनेकपृथक्त्वमिति ।

२. तदेवं सिद्धयोः संख्यापृथक्त्वयोर्व्यवहारेणापि सिद्धिः । अस्ति च तावदेकं द्वे त्रीणि—इत्यादिव्यवहारः । न चासौ निर्निबन्धनः, पदत्वव्याघातप्रसङ्गात् । न चाभेद एकत्वम्, भेदसमुच्चयः पुनरनेकत्वमिति युक्तम्, अभेदः किं पटस्तदतिरिक्तो वा ? आद्ये (एकः पट इति) सहप्रयोगानुपपत्तिः, पर्यायत्वात् । द्वितीये सम्प्रति-

---

३. परमाणु, संयोग की अपेक्षा अधिक देश में रहनेवाले कार्य के समवायिकारण होते हैं, क्योंकि वे अणुपरिमाण के हैं, जैसे—द्व्यणुक ।

४. विवादास्पद अवयवी द्रव्य, कारणत्व-योग्य पदार्थ के साथ एक आश्रय में रहता है, क्योंकि वह अवयवी है, जैसे-द्व्यणुक अथवा द्वितन्तुक पट । रूपादि गुण, एकमात्र आश्रय में रहते हैं और संयोग द्विष्ठ (दो आधारों में स्थित) एवं तीन चार तन्तुओं से आरब्ध होता है अतः सिद्ध-साधनता दोष नहीं । इसी प्रकार परिमाण की सिद्धि भी की जाती है ।

२–द्वित्व एवं द्विपृथक्त्वादि की सिद्धि—

१. विवादास्पद (घटादि) बुद्धि-जन्य दो गुणों के आश्रय होते हैं, क्योंकि द्रव्य हैं, अथवा समवायिकारण है, जैसे—आत्मा । आत्मत्व धर्म को उपाधि नहीं माना जा सकता, क्योंकि ईश्वर में आत्मत्व के रहने पर भी अनेकत्व एवं अनेकपृथक्त्व रूप साध्य नहीं रहता, अतः साध्य का व्यापक नहीं । उक्त अनुमान के द्वारा सिद्ध दो गुणों में एक गुण—अनेकत्व (द्वित्वादि) संख्या और दूसरा—अनेकपृथक्त्व होता है ।

२. इस प्रकार सिद्ध किए गए संख्या और पृथक्त्व की सिद्धि व्यवहार से भी की जाती है, क्योंकि एकम्, द्वे, त्रीणि—इस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है । यह व्यवहार विना किसी निमित्त के सम्भव नहीं, नहीं तो विना प्रवृत्ति-निमित्त के एकादि पदों का प्रयोग नहीं हो सकेगा । एकत्व अभेद है और अनेकत्व भेद का समुच्चय है—

पत्तिधर्मपदार्थोऽसाविति चेत्, किमत्र प्रमाणम् ? गुणादावभेदव्यवहार इति चेत्, न; व्यवहारमात्रादर्थासिद्धेः, तस्य गौणस्यापि बहुशो दर्शनात् । मुख्ये बाधकाभावात्, कथं गौणत्वमिति चेत्, न; साधकस्याप्यभावात् । उत्पत्तिकारणाभावस्य विस्पष्टत्वात् । समवाय्यसमवायिकारणयोरभावात्, निमित्तकारणमात्रादेवोत्पत्तिस्तु तत्सिद्धौ सत्यां कल्पनीया । अप्रतीतेस्तदसिद्धेः ।

३. यद्यप्यपेक्षाबुद्धिवैजात्यसमवायाद् द्वित्वत्रित्वादिव्यवहाराणामपि भेदसमुच्चयो न संकरमापादयति, तथाप्यननुसंहितवैजात्यादीनां बालगोपालादीनां द्वाविति व्यवहारोऽयं न तन्निबन्धनः द्व्यणुकपरिमाणं द्वित्वसंख्यया विना न घटते । नित्यपरमाणुपरिमाणाभ्यां परमाणुपरिमाणस्यानारम्भात् । प्रचयस्य चानाशङ्कनीयत्वात् । कारणपरिमाणत्वस्य न साधकतेति वाच्यम्, अत्रावान्तरातिशयवत्त्व-

---

यह कहना युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि अभेद वस्तु पटादि द्रव्य से अभिन्न है ? अथवा भिन्न ? प्रथम पक्ष में 'एकः पटः' इस प्रकार का सह-प्रयोग नहीं हो सकेगा क्योंकि अनेक पर्याय शब्दों का एक साथ प्रयोग लोक में नहीं देखा जाता । द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि अभेद समस्त पदार्थों का धर्म है, किन्तु संख्या केवल द्रव्य में रहती है । अभेद समस्त पदार्थों का धर्म है--इस में क्या प्रमाण ? इस प्रश्न का उत्तर है—गुणादि में भी अभेद का व्यवहार । व्यवहार मात्र से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं हुआ करती, क्योंकि व्यवहार अनेकत्र गौण भी देखा जाता है । मुख्य व्यवहार में बाधक होने पर ही गौण व्यवहार माना जाता है किन्तु गुणादि में अभेद व्यवहार की मुख्यरूपता का कोई बाधक उपलब्ध नहीं होता - ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि उसकी मुख्यरूपता का साधक प्रमाण भी कोई उपलब्ध नहीं होता, उसकी उत्पत्ति के कारण का अभाव भी है । उसके समवायिकारण और असमवायिकारण है नहीं । निमित्तकारणमात्र से वस्तु की उत्पत्ति तभी मानी जा सकती है, जब कि उसकी सत्ता सिद्ध हो । प्रतीति न होने के कारण उसकी सिद्धि भी नहीं हो सकती ।

३. यद्यपि अपेक्षा-बुद्धि की विलक्षणता से द्वित्व, त्रित्व आदि का व्यवहार-भेद सम्भव है, तथापि जिन व्यक्तियों की दृष्टि में अपेक्षा-बुद्धि का वैजात्य गृहीत नहीं होता, ऐसे बाल गोपालादि व्यक्तियों का द्वे, त्रीणि इस प्रकार का व्यवहार उसके आधार पर नहीं हो सकता । द्व्यणुक परिमाण, द्वित्व संख्या के विना नहीं बन सकता क्योंकि परमाणुगत नित्य परिमाणों के द्वारा परिमाणान्तर का आरम्भ सम्भव नहीं है । वहाँ प्रचय की आशङ्का भी नहीं कर सकते, परमाणु-परिमाण परिमाणान्तर का आरम्भक होता है, क्योंकि कारणगत परिमाण है - इस

स्योपाधेः। प्रचयजन्येऽपि परिमाणे तस्यानारम्भकत्वाच्च। तथाऽपेक्षाबुद्ध्याऽपि जन्यते, इदमेकम्—इदमेकमिति ज्ञानान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। न च व्यञ्जकत्वेनोपपत्तिः, समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशावस्थितानां युगपदिन्द्रियसम्बद्धानामिन्द्रियसम्बन्धव्यतिरेकेण नियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वादर्शनात्। अतः संयोगसमानता द्वित्वस्येति।

४. एके द्वित्वं बुद्धिजं नियमेनैकप्रतिपत्तृवेद्यत्वादित्याहुः। तेषां ज्ञानप्रागभावेन व्यभिचारः। गुणत्वे सतीति विशेषणे ईश्वरेच्छायाम्, कार्यत्वे सतीति विशेषणे जागरादिज्ञाने। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चाऽपेक्षाबुद्ध्यभावे द्वित्वाभावोपलम्भात्, तद्विनाशस्य द्वित्वविनाशहेतुत्वम्। अनुमानक्रमस्तु—द्वित्वं निमित्तकारणनाशनाश्य-

---

प्रकार के अनुमान को साधक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें अवान्तर अतिशयवत्ता उपाधि होती है [आशय यह है कि कारणगत परिमाण कार्य में उत्कृष्ट परिमाण का जनक देखा जाता है, जैसे-कपालगत महत् परिमाण से घट में महत्तर परिमाण की उत्पत्ति देखी जाती है। उसी प्रकार परमाणु-परिमाण यदि परिमाण का आरम्भक होगा, तब द्व्यणुक में अणुतर और त्रसरेणु में अणुतम परिमाण की उत्पत्ति होगी, जिसका फल यह होगा कि त्रसरेणु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। अतः अणुपरिमाण परिमाणन्तर का आरम्भक (जनक) नहीं माना जा सकता।] प्रचय-जन्य परिमाण का भी अणुपरिमाण जनक नहीं होता। 'इदमेकम्' इदमेकम्—इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि के द्वारा द्वित्वादि की उत्पत्ति अन्वय-व्यतिरेक प्रमाण से सिद्ध है। अपेक्षा बुद्धि को उसका व्यञ्जक नहीं माना जा सकता, क्योंकि समान-इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य अनेक देश में स्थित एक काल में सम्बद्ध पदार्थों का कोई भी अभिव्यञ्जक इन्द्रिय-सम्बन्ध के विना सम्भव नहीं होता, अतः संयोग की समानता द्वित्व में उपलब्ध होती है।

४. कतिपय विद्वान् इस प्रकार का अनुमान-प्रयोग किया करते हैं—द्वित्व बुद्धिजन्य होता है, क्योंकि नियमतः एक ही प्रमाता के द्वारा गृहीत होता है। उनका यह साधन ज्ञान-प्रागभाव में व्यभिचरित है। [क्योंकि ज्ञान का प्रागभाव भी नियमतः एक ही ज्ञाता के द्वारा गृहीत होता है किन्तु वह बुद्धि-जन्य नहीं होता]। गुणत्व विशेषण जोड़ने पर ईश्वर की इच्छा में और कार्यत्व विशेषण लगाने पर जाग्रदादि ज्ञानों में व्यभिचार होता है। अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर अपेक्षा-बुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश भी माना जाता है। अनुमान-प्रयोग इस प्रकार होते हैं—द्वित्व अपने निमित्त कारण के नाश से नाश्यमान होता है, क्योंकि उससे उत्पन्न होता है। सत्ता आदि धर्म निमित्त

व्यक्तिसमवेतम्, तज्जातित्वात्, सत्तावत् । सत्तादिनिमित्तकारणीभूतदेहनाश्य-नाश्यमाने युञ्जानस्यान्त्यसुखज्ञाने समवेतम् । एवं सर्वं पृथक्त्वे वक्तव्यमिति ।

—: ० :—

७–परिमाणस्य निरूपणम्—

१. विवादाध्यासितं द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठ-गुणाश्रयः, द्रव्यत्वात्, जलपरमाणुवत् । न च स्पर्शवत्त्वमूर्तत्वे उपाधी, पवनपार्थिव-परमाणौ व्यभिचारात् । ईश्वरो नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तानसमवायिकारणाद्विष्ठ-गुणाश्रयः, आत्मत्वात्, जीववत् । नित्यैकत्वैकपृथक्त्वपरिमाणसाधनविवक्षायामन-समवायिकारणमिति न वाच्यम् । अद्विष्ठ इति द्विष्ठगुणत्वावान्तरजातिरहित इति बोद्धव्यम्, अन्यथा एकत्वेन सिद्धसाधनता ।

२. तथा व्यवहारेणापि साधनीयम्—अस्ति तावद् 'अयं महान्—अयं महान्—इति व्यवहारः । न चात्र महत्त्वसामान्यमेव निमित्तम्, तरतमभावस्या-

---

कारणीभूत देह से नाश्यमान युञ्जान योगी के अन्तिम सुखज्ञान में समवेत होते हैं, इसी प्रकार पृथक्त्व के विषय में कहना चाहिए ।

—: ० :—

७-परिमाण का निरूपण—

१. विवादास्पद (जीव या अकाश) द्विष्ठ गुणों के असमवायि-कारण से भिन्न, अनित्य विशेषगुणों से भिन्न अद्विष्ठ गुण का आश्रय होता है, क्योंकि द्रव्य है, जैसे—जलीय परमाणु। इस अनुमान में स्पर्शवत्त्व उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वायु और पार्थिव परमाणुओं में वह साध्य व्यभिचरित है। [परिमाण की सिद्धि में दूसरा अनुमान किया जाता है—] ईश्वर नित्य विशेषगुणों से भिन्न एवं असमवायिकारण से भिन्न अद्विष्ट गुण का आश्रय होता है, क्योंकि आत्मा है, जैसे कि जीवात्मा। नित्य एकत्व और एकपृथक्त्व के साधन की विवक्षा होने पर अनसमवायिकारण यह अंश नहीं देना चाहिए, अद्विष्ठ पद का तात्पर्य द्विष्ठगुणगत जो अवान्तरजाति, उससे रहित अर्थ में होता है, अन्यथा एकत्व के द्वारा सिद्ध-साधनता दोष हो जाता है।

२. इसी प्रकार व्यवहार के द्वारा भी महत् परिमाण सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि 'अयं महान्'—इस प्रकार का व्यवहार लोक-प्रसिद्ध है। इस व्यवहार का निमित्त महत्त्व जाति है—ऐसा नहीं कह

नुपपत्तिप्रसङ्गात्। अन्यथा मधुररसस्याप्युच्छेदप्रसङ्गात्, मधुरत्वसमान्यादेव द्रव्याश्रिताद् व्यवहारोपपत्तेः।

३. प्रचयसंख्यापरिमाणानामन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदुत्पत्तौ कारणत्वम्। विवादाध्यासितोऽणुपरिमाणव्यतिरिक्तपरिमाणाश्रयः, द्रव्यत्वात्। विवादाध्यासितो महत्परिमाणव्यतिरिक्तपरिमाणाश्रयः, द्रव्यत्वाद् घटवत् परमाणुवच्च। न चात्राणुत्वमहत्त्वे उपाधी, रूपादिषु व्यभिचारात्। द्रव्यत्वेन विशेषणे वैयर्थ्यम्। ह्रस्वदीर्घव्यवहारयोरन्यथानुपपत्तिश्च प्रमाणम्। आश्रयनाशान्नाश इत्यत्र प्राचीनमनुमानं वाच्यम्।

४. द्वित्वासमवायिकारणकवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयं परिमाणम्।

—:०:—

सकते क्योंकि महत् परिमण में तर-तम व्यवहार होने के कारण महत् परिमाण विविध प्रकार का होता है, किन्तु सामान्य में किसी प्रकार का तर-तम भाव नहीं वन सकता। अन्यथा मधुर रस भी सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि एक प्रकार की मधुरत्व जाति के द्वारा ही मधुर रस-व्यवहार की उपपत्ति होती है।

३. परिमाण की उत्पत्ति में (१) प्रचय, (२) संख्या और (३) परिमाण तीनों अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर कारण सिद्ध होते हैं [महत् परिमाण और अणु परिमाण की सिद्धि करने के लिए क्रमशः दो अनुमान-प्रयोग किए जाते हैं—] (१) विवादास्पद (त्रसरेणु आदि) अणु परिमाण से भिन्न परिमाण का आश्रय होता है, क्योंकि द्रव्य है। (२) विवादास्पद (परमाणु और द्व्यणुक) महत् परिमाण से भिन्न परिमाण का आश्रय होता है, क्योंकि द्रव्य है, जैसे—घट या परमाणु। इन अनुमानों में महत्त्व और अणुत्व को उपाधि नहीं माना जा सकता क्योंकि रूपादि में उनका व्यभिचार है। द्रव्यत्व विशेषण लगाने पर व्यर्थविशेषणता दोष होता है। ह्रस्व और दीर्घ व्यवहार की अन्यथ-अनुपपत्ति भी परिमाण-सिद्धि में प्रमाण होती है, आश्रय-नाश से परिमाण का नाश होता है—यह सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त अनुमान किया जा सकता है।

४. परिमाण का लक्षण होता है—द्वित्वासमानाधिकरणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयं परिमाणम्।

—:०:—

८-संयोगस्य निरूपणम्—

१. विवादपदम् असमवायिकारणजन्यं कार्यत्वाद्, रूपवत्। न च प्रध्वंसे व्यभिचारः, प्रागभावप्रतियोगित्वस्य भावत्वे सतीतिविशेषितस्य तत्रासिद्धेः। न चात्रोपाधिशङ्काप्यधिरोहति, विस्पष्टश्च घटौ संयुक्ताविति प्रत्ययः। निराकृतश्च क्षणभङ्ग इति नाविरलदेशे उत्पादः तन्निमित्तत्वेनाशङ्कनीयः। कर्मसंयोगयोः तज्जनकत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेव।

२. आकाश आत्मना संयुज्यते, द्रव्यत्वादिति केचित्। तन्न, क्रियावत्त्वमूर्त्तत्वयोः परत्वापरत्वयोर्वोपाधित्वात्। आत्मा आकाशेन न संयुज्यते, अमूर्तत्वाद् रूपवत्। न चाऽत्राद्रव्यत्वमुपाधिः, आकाशे तदभावेन सपक्षाव्यापकत्वात्।

३. विभागाश्रयनाशाभ्यां च तस्य नाशः। आश्रयनाशोत्तरसंयोगाभ्यां च विभागनाशः। संयोगस्य त्वाश्रयनाशविभागाभ्यामेव नाश इत्युक्तम्। नित्यत्वात्

८-संयोग का निरूपण—

१. विवादास्पद (घटादि) असमवायिकारण (कपाल-संयोग) से जन्य होता है क्योंकि कार्य है, जैसे—रूप। कार्यत्व हेतु प्रध्वंस में व्यभिचारी है—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि भावत्व-विशेषित प्रागभाव-प्रतियोगित्वरूप हेतु प्रध्वंस में नहीं रहता अतः व्यभिचार नहीं है। यहाँ किसी प्रकार की उपाधि की शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि 'संयुक्तौ घटौ—'इस प्रकार की ऐसी विस्पष्ट प्रतीति विद्यमान है, जिसका प्रयोजक संयोग से अतिरिक्त पदार्थ कदापि नहीं हो सकता। बौद्धों का क्षण-भङ्ग-वाद बहुशः निराकृत हो चुका है इस लिए अव्यवहित देशों में वस्तु की उत्पत्ति को उक्त प्रतीति का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। कर्म (क्रिया) और संयोग में संयोग की जनकता प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

२. आकाश आत्मा से संयुक्त होता है क्योंकि द्रव्य है—ऐसा कुछ लोग अनुमान किया करते हैं। वह उचित नहीं, क्योंकि उक्त हेतु में क्रियावत्व, मूर्तत्व, परत्व और अपरत्व धर्म उपाधि हैं। [उक्त साधन केवल सोपाधिक ही नहीं, सत्प्रतिपक्षित भी है—] आत्मा आकाश से संयुक्त नहीं होता, क्योंकि अमूर्त है जैसे—रूप। इस साधन में अद्रव्यत्व उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आकाश में अद्रव्यत्व न रहने के कारण वह साध्य का व्यापक नहीं है।

३. विभाग एवं आश्रय-नाश से संयोग का नाश होता है और आश्रय नाश एवं उत्तरदेश-संयोग से विभाग का नाश होता है। संयोग का नाश आश्रय-नाश एवं विभाग से होता है—ऐसा (भाष्य में)

परमाण्वाकाशयोराश्रयनाशनाश्यत्वं तत्संयोगस्य न सम्भवति। सर्वमुक्तिपक्षे च विरोधिगुणप्रादुर्भावोऽपि दुर्घटः। अतो निमित्तनाशनाश्यत्वमङ्गीक्रियते इति। अनित्यः सम्बन्धः संयोगः, घटजनकतदवयवनिष्ठगुणत्वावान्तरजातीयः संयोगः।

—:०:—

९–विभागस्य निरूपणम्—

१. कर्म संयोगव्यतिरिक्तासमवायिकारणम्, संयोगव्यतिरिक्तत्वे सति असमवायिकारणत्वाद् रूपवत्। न चाकर्मत्वमुपाधिः, आकाशादिषु व्यभिचारात्। असमवायिकारणत्वे सतीति विशेषणे केवलसंयोगारम्भकेण संयोगेन व्यभिचारात्।

कहा गया है। संयोग के आश्रय परमाणु तथा आकाश दोनों नित्य होते हैं, अतः केवल आश्रय-नाश से संयोग का नाश नहीं होता [अपि तु कहीं आश्रय के नाश से संयोग का नाश होता है और कहीं विभाग से। सर्व-मुक्ति-पक्ष [कभी समस्त जीवों की मुक्ति हो जायगी—ऐसे मत में संयोग के विरोधी गुण (विभाग) का प्रादुर्भाव भी सम्भव नहीं, अतः निमित्त कारण (अदृष्टादि) के नाश से संयोग का नाश स्वीकार किया गया है। संयोग का लक्षण होता है— अनित्यः सम्बन्धः संयोगः अथवा घटजनकतदवयवनिष्ठगुणत्वावान्तरजातीयः संयोगः।'

—:०:—

९–विभाग का निरूपण—

१. [विभाग की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है–] कर्म संयोग से भिन्न (विभाग) का असमवायिकारण होता है, क्योंकि संयोग से भिन्न है और असमवायिकारण है, जैसे—रूप। [संयोग की असमवायिकारणता में सिद्धसाधनता दोष हटाने के लिये संयोग-व्यतिरिक्त—यह विशेषण दिया। संयोग-जनक संयोग में व्यभिचार न हो, अतः संयोगव्यतिरिक्तत्वे सति—यह हेतु का विशेषण दिया गया है। इस प्रकार संयोग से भिन्न विभाग ही एक ऐसा गुण सिद्ध होता है, जिसका कर्म असमावायिकारण होता है]। उक्त साधन में अकर्मत्व उपाधि है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आकाशादि में अकर्मत्व के रहने पर भी साध्य (संयोगव्यतिरिक्तासमवायिकारणत्व) नहीं रहता, अतः साध्य का समव्याप्त न होने से वह उपाधि नहीं हो सकता]। आकाशादि में व्यभिचार हटाने के लिये 'असमवायिकारणत्वे सति अकर्मत्व' को यदि उपाधि कहा जाय, तब भी केवल संयोग के जनक संयोग में साध्य का व्यभिचार हो जाता है। संयोग-भिन्नत्व विशेषण

संयोगव्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषणे वैयर्थ्यम् । न च संयोगव्यतिरिक्तासमवायिकारणत्वादिति संयोगस्यैवासमवायिकारणत्वं प्रतीयते इति बाधितविषयत्वम्, भवतां कर्मणः कर्मासमवायिकारणत्वात् । न चैवं प्रथमानुमाने सिद्धसाध्यता, मन्दगतौ तदभावात् व्यतिरिक्तासिद्धेः । तव च संस्कारस्याप्यसिद्धेः । अन्त्यकर्मणः कर्माजनकत्वात्, मम तस्यैव पक्षत्वात् ।

२. किं चास्ति तावदयं विभागव्यवहारः । न चासौ निर्निबन्धनः । न च संयोगाभावो निमित्तम्, संयोगनाशे एव कारणभावात् । न च कर्मणः तत्र कारणत्वम्, गुणानां कर्मविनाश्यत्वादर्शनात् । विप्रतिपन्नः संयोगो न कर्मनाश्यः,

---

लगाने पर व्यर्थविशेषणता दोष होता है। यदि कहा जाय कि 'संयोगव्यतिरिक्तत्वे सत्यसमवायिकारणत्वात्'—इस हेतु के सामान्यतः 'असमवायिकारणता' पद से संयोग की असमवायिकारणता का भी ग्रहण हो सकता है, अतः संयोग से भिन्न (विभाग) की असमवायिकारणता सिद्ध करने मैं बाध दोष होता है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सामान्य असमवायिकारणता का अर्थ केवल संयोग की असमवायिकारणता ही नहीं कर सकते, आप (वेदान्ती) के मत मैं कर्म की भी असमवायिकारणता कर्म मैं मानी जाती है। यदि कहा जाय कि संयोग से भिन्न कर्म की असमवायिकारणता कर्म मैं हम मानते ही हैं, अतः उक्त अनुमान मैं सिद्ध-साधनता दोष होता है। तो यह भी कहना संगत नहीं, क्योंकि जहां अन्तिम कर्म से पूर्वदेश से विभाग होकर ग्रामादि प्राप्तव्य देश से संयोग हो जाने पर गति समाप्त हो जाती है, वहां कर्म की असमवायिकारणता सम्भव नहीं। वहाँ संयोग और विभाग को छोड़कर कोई वेगादि संस्कार भी सिद्ध नहीं होता, जिसकी असमवायिकारणता कर्म मैं मान लेते। अन्तिम कर्म किसी अन्य कर्म का जनक नहीं होता, हम उसी अन्तिम कर्म को पक्ष बनाकर उक्त अनुमान-प्रयोग करते हैं।

२. लोक मैं 'विभक्तः'—इस प्रकार का प्रचुर व्यवहार प्रचलित है, यह व्यवहार विना (विभागरूप) निमित्त के सम्भव नहीं। इसीलिए भाष्यकार श्री प्रशस्तपाद ने कहा है—'विभागः विभक्तप्रत्ययनिमित्तम्'। विभक्त-व्यवहार का निमित्त संयोगाभाव है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विभाग संयोगाभाव या संयोग-नाश का हेतु होता है। [अतः विभाग के न होने पर संयोगाभाव उत्पन्न ही नहीं होगा, जो कि विभक्त-व्यवहार का निमित्त बन सके।] पूर्व संयोग-नाश मैं कर्म को हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि कर्म किसी गुण का नाशक नहीं देखा जाता। अतः यहां यह अनुमान-प्रयोग किया जा सकता है—संयोग, कर्म से

गुणत्वात् सम्प्रतिपन्नवत् । न च विभागविनाश्योऽपि न भवति, तस्मादेवेति साम्प्रतम्, प्रतियोग्यसिद्धया व्याप्त्यसिद्धेः । सिद्धो वा तद्विनाशकत्वेनैव कल्पना, निष्कारणकार्यासिद्धेः ।

३. स च द्विविधः—कर्मजविभागजभेदात् । विवादाध्यासितो विभागो न कर्मासमवायिकारणकः, कर्मैकार्थासमवेतत्वात्, शब्दवत् । विवादपदमात्मातिरिक्तं द्रव्यं विभागजन्यगुणाधिकरणम्, नित्यद्रव्यत्वाद्, आत्मवत् । न चात्मत्वमुपाधिः, ईश्वरे व्यभिचारात् । आकाशे च व्याप्त्यभावात् ।

नष्ट नहीं होता, क्योंकि वह गुण है, जैसे—उभयसम्मत रूपादि । किन्तु 'संयोगो विभागनाश्यो न भवति, गुणत्वात्, सम्मतवत्'—यह अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रतियोगी (संयोग के विरोधी विभाग) के सिद्ध न होने पर तद्घटित व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती । विभाग की सिद्धि होने पर संयोग-नाशक रूप से ही उसकी कल्पना होगी, क्योंकि विना कारण के कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता ।

३. वह विभाग दो प्रकार का होता है—१. क्रिया-जन्य विभाग और २. विभाग-जन्य विभाग । [हाथ में जो क्रिया उत्पन्न होती है वह क्रिया हाथ का पूर्व संयुक्त देश से विभाग कर देती है, वह विभाग उसी संयुक्त देश से शरीर का विभाग कर देता है] । यह विवादास्पद (विभाग-जन्य विभाग) हाथ की क्रिया से उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि वह क्रिया विभाग के आधारभूत शरीर में उत्पन्न नहीं हुई, जैसे—शब्द । [विभागरूप कार्य के एक आधार में समवेत क्रिया ही उसकी असमवायिकरण होती है, व्यधिकरण क्रिया नहीं [जैसा कि श्रीधराचार्य ने कहा है—'यतः कुड्यादिदेशाद् हस्तस्य विभागः, ततः शरीरस्यापि विभागो दृश्यते । न चायं शरीरक्रियाकार्यः, तदानीं शरीरस्य निष्क्रियत्वात् । नापि हस्तक्रियाकार्यो भवितुमर्हति, व्यधिकरणस्य कर्मणो विभागहेतुत्वादर्शनात्' (न्या. कं. पृ. १७३-७४) विभागज विभाग की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है—] विवादास्पद आकाश और जीवात्मा से भिन्न (ईश्वरादि) नित्य द्रव्य; विभाग-जन्य गुण का आधार होता है, क्योंकि नित्य द्रव्य है, जैसे आकाश या जीवात्मा । [वंश-दलद्वय-विभाग-जन्य शब्द गुण का आधार आकाश है एवं शरीर-प्राण-विभागरूप हिंसा से जन्य अधर्म का आधार जीवात्मा है, अतः सिद्ध-साधनता दोष हटाने के लिए पक्ष में आकाशात्मव्यतिरिक्तत्व विशेषण दिया गया है । ईश्वरादि नित्य द्रव्य में परिशेषतः वह गुण विभागज विभाग ही सिद्ध होता है] । उक्त साधन में आत्मत्व धर्म उपाधि नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर में

४. अन्ये तु द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पत्तिकाले नावयवकर्म, आकाशादिदेशाद् विभागारम्भकम्, कर्मत्वादिति ब्रुवते। तदसत्, आकाशदेशेन विभागमारभते कर्मत्वादित्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। तस्मान्न कारणविभागाद् विभागः स्यात्। विवादपदमात्मना विभज्यते द्रव्यत्वादिति पूर्ववद् दूषणीयम्।

५. आश्रयविनाशोत्तरसंयोगाभ्यां च तद्विनाशः। उत्तरसंयोगाद् विनाशात् पश्चादपि कथं विभागप्रत्ययानुवृत्तेरित्यपि न वाच्यम्, प्रत्ययस्यैवासिद्धेः, शब्द-

---

आत्मत्व के रहने पर भी साध्य का रहना निश्चित नहीं, अतः साध्य का समव्याप्त आत्मत्व नहीं है एवं आकाश में साध्य के रहने पर भी आत्मत्व नहीं रहता, अतः साध्य का व्यापक भी नहीं।

४. अन्य (भाष्यकार प्रशस्तपादादि) विद्वानों का कहना है कि कमलादि कार्य द्रव्य के अवयवों में उत्पन्न क्रिया जिस समय द्रव्यारम्भक संयोग-विरोधी विभाग को उत्पन्न करती है, उस समय आकाशादि देशों के साथ उन अवयवों का विभाग नहीं करती, क्योंकि वह अवयवगत क्रिया है। उनका वह कहना उचित नहीं, क्योंकि उसी प्रकार उसके विपरीत भी अनुमान किया जा सकता है—उक्त क्रिया उसी समय आकाशादि देशों से अवयवों का विभाग करती है, क्योंकि वह क्रिया है। इसलिए कारण-विभाग से विभाग उत्पन्न नहीं होता। [कारण-विभाग-जन्य विभाग के विषय में मत-भेद पुरातन-सा प्रतीत होता है। इसीलिए श्री व्योमशिवाचार्य ने विरोधी मत का निरास करने के लिए प्रदर्शित किया है—'ननु सर्वमेतदसाम्प्रतम् विपरीतार्थव्यवस्थायां प्रमाणोपपत्तेः। तथा हि—विशिष्टकारणकर्म, अवयवान्तरविभागोत्पत्तिसमकालमाकाशदेशेन विभागमारभते, अवयवकर्मत्वात्' (व्यो. व. पृ. ४९९)]। विवादास्पद (परस्पर विभक्त अवयव) द्रव्य आत्मा से विभक्त होता है, क्योंकि वह द्रव्य है—यह कारण विभाग-जन्य विभाग को सिद्ध करने वाला अनुमान पूर्ववत् दूषणीय है।

५. विभाग का विनाश आश्रय द्रव्य के नाश एवं उत्तर देश के साथ संयोग से होता है। उत्तर-संयोग से विभाग के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी विभाग की प्रतीति क्यों होती रहती है—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वहां प्रतीति का होना ही सिद्ध नहीं होता। विभाग के न होने पर भी 'विभाग' शब्द का प्रयोग अन्यथा (गौण या औपचारिक) भी हो सकता है। [व्योमशिवाचार्य ने भी कहा है—'संयोगाभावे च भाक्तो विभक्तप्रत्ययः' (व्यो. व. पृ. ४९८)]। कहीं पर

प्रयोगस्य चान्यथाप्युपपत्तेः, श्रवणमात्रादेव मुख्यत्वानिर्णयात् । संयोगसंसर्गाभावे विभागपदस्यापि न पृथक् संकेतः, संयोगप्रागभावेऽपि व्यवहारदर्शनात् । संयोगसमानाश्रयत्वे सति संयोगविनाशको विभागः ।

—: ० :—

१०-११-परत्वापरत्वयोर्निरूपणम्—

१. विवादपदं परमाणुवृत्त्यद्विष्ठगुणजनकम्, परमाणवो वा कार्यवृत्त्यद्विष्ठगुणजनका मूर्तत्वात्, पार्थिवपरमाणुवद्, घटवच्चेति । विवादपदं स्वारम्भद्रव्ये

शब्द-प्रयोग मात्र को सुनकर मुख्य व्यवहार का निर्णय सहसा नहीं किया जा सकता । संयोग के संसर्गाभाव में भी 'विभाग' पद का संकेत नहीं किया जा सकता, क्योंकि संयोग के प्रागभाव में भी 'विभाग' शब्द का व्यवहार देखा जाता है । विभाग का लक्षण यह है– 'संयोगसमानाश्रयत्वे सति संयोगनाशको विभागः' (संयोग के नाशक अदृष्ट और ईश्वर की इच्छादि में अतिव्याप्ति न हो इसलिए सत्यन्त दल दिया । रूपादि में अतिव्याप्ति वारण करने के लिए विशेष्यदल प्रयुक्त हुआ है ।

—:०:—

१०-११-परत्व और अपरत्व का निरूपण—

१. [कालिक परत्व की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है—] विवादास्पद (द्व्यणुकादि कार्य) परमाणु में वर्तमान अद्विष्ठ गुण (परत्व) का जनक होता है, क्योंकि मूर्त है, जैसे—पार्थिव परमाणु स्वात्मक परमाणु में रूपादि अद्विष्ठ गुण का जनक होता है, वैसे ही द्व्यणुकादि कार्य अपने आरम्भक परमाणु में अद्विष्ठ गुण (परत्व) का जनक होता है । आशय यह है कि कार्य की अपेक्षा कारण सदैव पूर्वकालभावी या पर होता है, अतः परमाणुरूप कारण में रहनेवाले परत्व का उत्पादक (अवधिस्वरूप निमित्त कारण) द्व्यणुकरूप कार्य होता है । इसी लिए आचार्य वादीन्द्र ने किरणावलि के 'परस्परानुबद्धकारणतया' पद की व्याख्या में कहा है—"यदेव परत्वेन समवायितया कारणमपेक्ष्यते, तदेवापरत्वेनावधितया" (रससार, पृ. ८५) । अर्थात् परत्व गुण समवायिकारण के रूप में जिस द्रव्य की अपेक्षा करता है, अपरत्व गुण उसी द्रव्य की अवधि के रूप में अपेक्षा करता है । आचार्य आनन्दज्ञान ने परत्व-लक्षण का अनुवाद करते हुए यही अनुमान-प्रयोग दिखाया है—"कार्यद्रव्येण स्वसमवायिकारणकृतगुणत्वा-

गुणजनकम्, द्रव्यत्वे सति द्रव्यारम्भकत्वाद, ईश्वरवत् । विवादपदं परमाणुजन्यम्, कर्महेत्वद्विष्ठगुणाश्रयः, मूर्तत्वादणुत्वाद् पार्थिवपरमाणुवत् । तदेवं सिद्धयोः परापर-व्यवहारादपि सिद्धिः । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चादित्यपरिवर्तनदेशसंयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वज्ञानस्य हेतुत्वम् । व्यञ्जकत्वे पूर्ववद् दोषोऽनुसन्धेयः ।

वान्तरजातीयं परत्वम् कार्यद्रव्यं परमाणुवृत्त्यद्विष्ठगुणजनकम्, मूर्तत्वात् पार्थिवपरमाणुवत्" (तर्कसं. पृ. ७६)। इसी प्रकार कालिक अपरत्व की सिद्धि करने के लिए अनुमान किया जाता है—परमाणु द्व्यणुकादि कार्यभूत द्रव्य में अद्विष्ठ गुण (अपरत्व) का जनक होता है, क्योंकि मूर्तद्रव्य है, जैसे—घट। [स्वात्मक कार्य रूपादि अद्विष्ठ गुण का जनक होता है। कारण की अपेक्षा कार्य पश्चात्कालभावी या अपर होता है, अतः परमाणुरूप कारण द्रव्य अपने द्व्यणुकादि कार्य में अपरत्व का जनक (अवधि) माना जाता है। आचार्य आनन्दज्ञान ने अपरत्व-लक्षण का अनुवाद एवं उसका साधक अनुमान-प्रयोग ऐसा ही दिखाया है—"समवायिना स्वकार्ये क्रियमाणगुणेन गुणत्वावान्तरजातीयम् अपरत्वम्......परमाणवः कार्यवृत्त्यद्विष्ठगुणजनकाः, मूर्तत्वाद्, घटवत्।" जाति-घटित लक्षण समस्त परत्वापरत्व में घट जाता है। कालिक और दैशिक उभय-विध परत्वापरत्वके समावयिकारण परापर द्रव्य, असमवायिकारण उक्त द्रव्य के साथ काल और दिशा का संयोग तथा निमित्त कारण अपेक्षा बुद्धि मानी जाती है। काल और दिशा में परत्वापरत्व की जनकता सिद्ध की जाती है—] विवादास्पद (काल और दिशा) स्वजन्य द्रव्य में गुण के जनक होते हैं, क्योंकि वे द्रव्य के जनक द्रव्य हैं, जैसे—ईश्वर। काल, दिशा तथा ईश्वर कार्यमात्र के जनक माने जाते हैं, अतः आचार्य सर्वदेव ने कहा है—"विप्रतिपन्नं कार्यं दिक्कालकार्यम्, कार्यत्वात् सम्प्रतिपन्नवत्" (प्र. मं. पृ. ५)। इस प्रकार काल और दिशा स्वारब्ध द्रव्य के गुणों के आरम्भक होते हैं। परत्वापरत्व की परिशेषानुमान से सिद्धि की जाती है—विवादास्पद (मन) परमाणुजन्य, कर्महेतुक, अद्विष्ठ गुण (परत्वापरत्व) का आश्रय होता है, क्योंकि मूर्त अथवा अणु है, जैसे—पार्थिव परमाणु [मनोगत परिमाण, विभाग और संयोग को लेकर सिद्धसाधनता दोष हटाने के लिए क्रमशः परमाणु-जन्य, कर्महेतुक तथा अद्विष्ठ—ये तीन विशेषण दिए गए हैं। परिशेषतः परत्वापरत्व ही वैसे गुण सिद्ध होते हैं]। इस प्रकार अनुमानों के द्वारा प्रसाधित परत्व और अपरत्व की सिद्धि 'अयं परः' आदि व्यवहारों के द्वारा भी की जा सकती है। अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर सूर्य-क्रिया से प्रभावित देश-खण्डों के संयुक्त-

२. विवादाध्यासितोऽद्विष्ठबुद्धिजगुणयोराश्रयः, विज्ञानासमवायिकारणाधारत्वाद्, आत्मवत्। अश्रोत्राणामविशेषगुणवत्वात्। कार्यद्रव्येण स्वसमवायिकारणेन कृताद्विष्ठगुणेन गुणत्वावान्तरजातीयं परत्वम्। समवायिकारणेन स्वकार्ये क्रियमाणेनाद्विष्ठगुणेन गुणत्वावान्तरजातीयमपरत्वम्। कारणविनाशाद् विनाशः।

—: ० :—

संयोगों की अधिकता एवं न्यूनता का ज्ञान (अपेक्षा बुद्धि) परत्वापरत्व का निमित्तकारण होता है। उक्त संयुक्त-संयोगों को व्यञ्जक मानने पर पूर्वोक्त दोष प्रसक्त होता है।

२. [अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न पदार्थ अपेक्षा बुद्धि के नाश से नष्ट हो जाता है—यह दिखाने के लिए प्रकारान्तर से परिशेषानुमान दिखाया जाता है—] विवादास्पद (मन) अद्विष्ट, बुद्धि-जन्य (परत्वापरत्व) गुणों का आधार होता, क्योंकि ज्ञान के असमवायिकारण (मनः संयोग) का आश्रय है, जैसे—जीवात्मा [अद्विष्ट बुद्धि-जन्य इच्छा प्रयत्नादि गुणों का आधार होता है। वैसे ही मन भी कथित गुणों का आधार होता है। मन में कुल संख्या, परमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व अपरत्व और संस्कार—आठ गुण माने जाते हैं। इन में अपेक्षा बुद्धि से जन्य द्वित्वादि संख्या, परत्व तथा अपरत्व ही है। द्वित्वादि संख्या द्विष्ठ हैं, अतः अद्विष्ठ, बुद्धि-जन्य गुण केवल परत्व और अपरत्व ही शेष रह जाते हैं।] परत्व का लक्षण होता है—कार्यद्रव्येण 'स्वसमवायिकारणे कृताद्विष्ठगुणेन गुणत्वावान्तरजातीयं परत्वम्' (अर्थात् कार्य द्रव्य के द्वारा अपने समवायिकारण में उत्पादित जो अद्विष्ठ गुण, उसमें रहने वाली गुणत्व की व्याप्य जाति (परत्वत्व) के आश्रय को परत्व कहते हैं) इसी प्रकार समवायिकारण के द्वारा अपने कार्य द्रव्य में समुत्पादित जो अद्विष्ठ गुण, उसमें रहनेवाली गुणत्व की व्याप्य जाति (अपरत्वत्व) के आश्रय को अपरत्व कहते हैं। कारणों के नाश हो जाने पर परत्वापरत्व का नाश हो जाता है [जैसा भाष्यकार ने कहा है—'विनाशस्त्वपेक्षाबुद्धिसंयोगद्रव्यविनाशात्।' अर्थात् कहीं अपेक्षा बुद्धिरूप निमित्तकारण के नाश से, कहीं आश्रय द्रव्य के साथ काल या दिशा के संयोगरूप असमवायिकरण के नाश से और कहीं समवायिकारण द्रव्य के नाश से परत्वापरत्व का नाश होता है।

—:०:—

१२-बुद्धेर्निरूपणम्—

१. बुद्धौ प्रमाणं न वक्तव्यम्, सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धत्वात्। तदनभ्युपगमे स्ववचनविरोधादयः प्रसञ्जनीयाः। ज्ञानत्वम्, अस्मदादिमानसप्रत्यक्षव्यक्तिसमवेतम्, ज्ञानजातित्वात्, सत्तावत्। अस्मदादीत्यविवक्षायां प्रमेयत्वादिकं योगिप्रत्यक्षसाधकमनुसन्धेयम्। प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमे ज्ञानाभ्युपगमो निर्मूलः, तत्कारणेनैव तत्कल्पकव्यवहारोपपत्तेः। अनवस्था तु नास्ति, अदृष्टादिकारणसामग्र्या नियामकत्वात्। रूपादिवदुद्भूतत्वस्यापि ज्ञानेऽभ्युपगतत्वात्, तथाविधस्यैव प्रत्यक्षत्वात्।

१२-बुद्धि का निरूपण—

१. बुद्धि (ज्ञान) के विषय में प्रमाण-प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त (न्या. सू. १।१।२८ में प्रदर्शित) की रीति से सिद्ध है। [आशय तह है कि सभी दार्शनिक बुद्धि तत्त्व को स्वीकार करते हैं।] बुद्धि या ज्ञान तत्त्व को न मानने पर कुछ बोलना (शब्द-प्रयोग करना) भी सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि दूसरे व्यक्ति को कुछ ज्ञान कराने के लिए शब्द-प्रयोग किया जाता है, ज्ञान के अभाव में शब्द-प्रयोग व्यर्थ है। [ज्ञान की मानस प्रत्यक्षता सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है—] ज्ञानत्व धर्म हम जीवों के मानस प्रत्यक्ष ज्ञान की विषय वस्तु में समवेत होता है, क्योंकि वह ज्ञानगत जाति है, जैसे—सत्ता। [सत्ता जाति मानस प्रत्यक्ष के विषयीभूत आत्मादि में रहती है, मानस प्रत्यक्ष का एक ऐसा भी विषय मानना होगा जिसमें ज्ञानत्व जाति रह सके। वह एक मात्र ज्ञान व्यक्ति है। इस अनुमान का निराकरण करते हुए आनन्दज्ञान ने कहा है—"एतेन ज्ञानत्वमस्मदादिमानसप्रत्यक्षसमवेतं, ज्ञाननिष्ठजातित्वात्, सत्तावदिति प्रत्युक्तम्, धर्मिदृष्टान्तयोरसम्प्रतिपन्नत्वात्" (त. सं. पृ. ७८)] यदि साध्य में 'अस्मदादि' पद न देना हो, केवल मानस प्रत्यक्षव्यक्तिसमवेतम्—इतना ही साध्य विवक्षित हो, तब ज्ञान में योगिप्रत्यक्षता सिद्ध करने के लिए प्रमेयत्वादि हेतु का प्रयोग करना चाहिये [जैसा कि आनन्दज्ञान ने उद्धृत किया है—"विमतं कस्यचित् प्रत्यक्षम्, प्रमेयत्वात्, कुम्भवत्" (त. सं. पृ. ८९)]। ज्ञान का प्रत्यक्ष न मानने पर ज्ञान का मानना ही निर्मूल हो जाता है, क्योंकि ज्ञान के कल्पक (अनुमापक) ज्ञातता-व्यवहार की सिद्धि ज्ञान की सामग्री से ही हो जायगी। ज्ञान का प्रत्यक्ष से भान मानने पर उस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का प्रत्यक्ष—इस प्रकार अनवस्था का सन्देह नहीं करना चाहिए, क्योंकि अदृष्टादि

२. प्रभाकरमते विवादपदं न मानसप्रत्यक्षं ज्ञानत्वाद्—इति न साम्प्रतम्, सर्वमुक्तिपक्षे दृष्टान्तासिद्धेः। अन्यस्मिन्नपि प्रभाकरस्य सर्वदा एकत्वे निश्चायकाभावात्। न च घटं जानामीत्यत्र कल्पनालाघवादेकमेव ज्ञानं कल्पनीयम्—इत्यर्थप-

---

घटित सामग्री जिस ज्ञान व्यक्ति की है, उसी का प्रत्यक्ष होगा, सब का नहीं। रूपादि के समान उद्भूतत्व भी ज्ञान में नहीं माना जाता; उद्भूतत्व-रहित ज्ञान का ही प्रत्यक्ष माना जाता है।

२. [प्रभाकर के मत में ज्ञान स्वयंप्रकाश होता है, प्रमाता एवं प्रमिति अंश में सदैव प्रत्यक्ष माना जाता है, जैसा आचार्य शालिकनाथ ने कहा है—

"सर्वविज्ञानहेतूत्था मितौ मातरि च प्रमा।
साक्षात्कर्तृत्वसामान्यात् प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥" (प्र. पं. पृ. १०४)

विषयांश को लेकर परोक्षापरोक्ष-विभाग बन जाता है—यह भी कहा गया है "नन्वेवं सर्वं प्रत्यक्षं प्रसक्तम्। यदि प्रमात्रभिप्रायम्, इष्टमेव। प्रमेयाभिप्रायमिति चेत्, न; प्रमेयस्यापरोक्षत्वानियमात्" (प्र. पं. पृ. १७०)। ज्ञान का प्रत्यक्ष उसी ज्ञान से माना जाता है। मानस-प्रत्यक्षता का प्राभाकर निराकरण करते हैं "एतेन ये सुखादिवन्मानसप्रत्यक्षं ज्ञानान्तरमेव ज्ञानसद्भावे प्रमाणमाहुः, तेऽपि निराकृताः, स्वयम्प्रकाशत्वेनोपपत्तौ पराधीनत्वकल्पनानुपपन्ना" (प्र. पं. पृ. १८९)। अतः प्राभाकर मत के अनुसार ज्ञान की मन के द्वारा अप्रत्यक्षता का अनुमान दिखाकर उसका निरास किया जाता है—] प्रभाकर के मत में जो यह अनुमान किया जाता है—विवादास्पद (ज्ञान) का मानस प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वह ज्ञान है। वह अनुमान समुचित नहीं, क्योंकि सब जीवों की एक साथ मुक्ति का सिद्धान्त मानने में कोई दृष्टान्त नहीं। [आशय यह है कि परप्रकाशता मानने पर अनवस्था होती है, अतः प्राभाकर उसे स्वयम्प्रकाश मानते हैं। स्वयम्प्रकाशता पक्ष में ज्ञान को एक मानना ही लाघव-संगत होता है। एक ज्ञानरूप विशेष गुण के नष्ट हो जाने पर सब जीवों की एक साथ मुक्ति हो जायगी, जो कि अत्यन्त अदृष्टचर एवं अनुचित कल्पना है।] अन्य पक्ष (क्रमशः जीवों की मुक्ति मानने) में ज्ञान को नाना मानना ही होगा, ज्ञान की एकता में कोई प्रमाण नहीं। यदि कहा जाय कि कल्पना में लाघव होने के कारण 'घटं जानामि' इस प्रकार का एक ही ज्ञान मानना उचित है [जैसा कि आचार्य शालिकनाथ ने कहा है—"सर्वाहि प्रतीरेवमुपजायतेऽहमिदं जानामीति" (प्र. पं. पृ. १६८)]।

र्युपन्यासो दोषः स्यात्, न हि परेणानेकत्वसाधने सोपन्यस्ता ।

३. किं च ज्ञानं प्रत्यक्षं वस्तुत्वाद्, घटवत् । न चाज्ञानत्वमुपाधिः, तत्र सर्वस्याज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वासिद्धेः । नञश्चेतरेतराभाववाचकत्वेऽपि विशेषणवैयर्थ्यात् । ज्ञानव्यतिरिक्तत्वमिति तस्यार्थः । तत्र च न ज्ञानपदस्योपयोगः । न च ज्ञानं मानसप्रत्यक्षं न भवति, ज्ञानत्वादिति साम्प्रतम्, असाधारणत्वात् । न च मानसप्रत्यक्षत्वेऽनवस्थादोषः, योग्यभ्युपगमवादिनां तस्यासम्भवाददोषाच्च । तस्माज्ज्ञानं मानसप्रत्यक्षमिति ।

—: ० :—

तो वैसा कहना उचित नहीं, क्योंकि एकत्व के पक्ष में लाघवमूलक अर्थापत्ति प्रमाण तभी प्रस्तुत किया जा सकता था, जब कि वैशेषिक की ओर से ज्ञान की अनेकता सिद्ध करने के लिए अर्थापत्ति का उपन्यास किया गया होता ।

३. ज्ञान की प्रत्यक्षता अनुमान से भी सिद्ध होती है--ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वस्तु है. जैसे-घट । यदि कहा जाय कि इस अनुमान में ज्ञानत्व उपाधि है—घटादि में वह साध्य का व्यापक एवं ज्ञान में साधन का अव्यापक है । तो वैसा कहना उचित नहीं; क्योंकि प्रभाकर के मत से सभी ज्ञानाभावों में प्रत्यक्षता सिद्ध नहीं, अतः अज्ञानत्व (ज्ञानाभावत्व) धर्म साध्य का समव्याप्त न होने के कारण उपाधि नहीं हो सकता । 'अज्ञान' पद में नञ् को अन्योभावमात्र का वाचक मानने पर व्यर्थविशेषणता दोष होता है, क्योंकि उक्त प्रकार से 'अज्ञानत्व' पद का ज्ञान-भिन्नत्व अर्थ करना होगा, उसमें 'ज्ञान' पद का कोई उपयोग नहीं । [आशय यह है कि पक्ष में जब उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान किया जायगा—'ज्ञानं न प्रत्यक्षम्, ज्ञानाभिन्नत्वात् ।' वहाँ अभिन्नत्वात्–इतना ही हेतु पर्याप्त है; ज्ञान विशेषण की कोई आवश्यकता नहीं । उक्त मनोगत प्रत्यक्षता साधक अनुमान के विरोध में ज्ञानं न मानस प्रत्यक्षम्, ज्ञानत्वात्—ऐसा सम्प्रति, पक्ष-प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस प्रयोग में ज्ञानत्व हेतु सपक्ष और विपक्ष से व्यावृत्त एवं पक्षमात्र में वृत्ति होने से असाधारण नाम का हेत्वाभास है । ज्ञान का दूसरे मानस प्रत्यक्ष से भान एवं दूसरे का तीसरे से—इस प्रकार अनवस्था दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि योग-शक्ति-सम्पन्न पुरुष विशेष को माननेवाले वैशेषिकादि वादिगणों के मत में न तो अनवस्था होती है और न उसे दोष ही माना जाता है । इस लिए ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष होता है—इस सिद्धान्त में कोई दोष नहीं ।

—: ० :—

१–अख्यातिवादनिरासः—

१. अथ केचिदख्यातिं समर्थयन्ति—विवादपदं रजतविषयं रजतज्ञानत्वाद्—इति ब्रुवते । ते तु प्रष्टव्याः—किमिदं रजतज्ञानं नाम ? १. रजतस्य ज्ञानं रजतज्ञानम् ? २. रजत तज्ज्ञानं च रजतज्ञानमिति वा ? ३. रजतशब्दोल्लेखि ज्ञानं वा ? ४. रजतार्थिनः प्रवृत्तिहेतुभूतं ज्ञानं वा ?

२. न प्रथमः, षष्ठ्यर्थस्य विषयविषयिभावव्यतिरेकेणान्यस्यासम्भवे साध्याविशिष्टत्वात् ।

३. न द्वितीयः, उभयासिद्धेः, ज्ञानस्य निराकारत्वात् ।

१–अख्यातिवाद का खण्डन—

१. [वैशेषिकगण विपर्यय या भ्रम ज्ञान भी मानते हैं, किन्तु अन्य कतिपय दार्शनिक (प्रभाकर) अख्याति-वाद का प्रतिपादन करते हैं। यहाँ 'ख्यादि' शब्द का अथ भ्रम ज्ञान है। प्राभाकर मत में भ्रम ज्ञान नहीं माना जाता, अतः उस मत-वाद को अख्याति-वाद कहते हैं। शुक्ति में 'इदं रजतम्'—इस ज्ञान का विषय शुक्ति है, ऐसा भ्रम-वादी कहते हैं, किन्तु प्रभाकर का कहना है कि 'इदम्'—यह ज्ञान प्रत्यक्ष है और इस का विषय शुक्ति है इसी प्रकार रजतम्- यह ज्ञान स्मरण है और इसका विषय रजत है। जैसा कि शालिकनाथ मिश्र ने कहा है—

"इदं रजतमित्यत्र रजतमेवाभासते ।
तदेव तेन वेद्यं स्यान्न तु शुक्तिरवेदनात् ॥" (प्र. पं. पृ. ४९)

इसी आशय का अनुमान दिखाया जाता है-] विवादास्पद (रजतोल्लेखि ज्ञान) रजत को विषय करता है, क्योंकि वह रजत-ज्ञान है—ऐसा प्राभाकर कहा करते हैं। उन से पूछना चाहिए कि 'रजत-ज्ञान' शब्द से आप क्या कहना चाहते हैं ? क्या १. रजत का ज्ञान, अथवा २. रजतस्वरूप ज्ञान, या ३. रजतशब्दोल्लेखी ज्ञान, या ४. रजताभिलाषी पुरुष की प्रवृत्ति का जनक ज्ञान ?

२. प्रथम पक्ष उचित नहीं, क्योंकि षष्ठी (रजतस्य ज्ञानम्—इस विग्रह में प्रयुक्त रजतपदोत्तर) विभक्ति का विषय-विषयीभाव को छोड़कर अन्य अर्थ यहां सम्भव नहीं. अतः उक्त प्रयोग में हेतु और साध्य का अविशिष्ट (एक ही) अर्थ हो जाता है जो एक दोष है, क्योंकि इस प्रकार के साध्य का ज्ञान हेतु दर्शन-काल में ही हो जाता है, पुनः उसे सिद्ध करने में सिद्ध-साधनता होती है।

३. द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि रजतस्वरूप ज्ञान दोनों (प्रभाकर और वैशेषिक) के मत में प्रसिद्ध नहीं, क्योंकि दोनों मतों

४. नापि तृतीयः, उल्लेखार्थस्य विशेषणत्वेऽसिद्धेः। तज्ज्ञानजनितस्मृतिमात्रयोगित्वे पूर्वपदज्ञानेनापि रजतपदस्य स्मरणसम्भवेन व्यभिचारात्।

५. न चतुर्थः, विवेकाग्रहणवादिनाम् इदमिति ज्ञानस्यापि शुक्तिकालम्बनस्य तद्धेतुत्वेन व्यभिचारात्। एतेन रजतमिति प्रत्युक्तम्, पूर्वोक्तपक्षाद् बहिर्भावाभावात्।

६. यच्च विमतं ज्ञानं यथार्थं ज्ञानत्वाद्—इति ब्रुवते, तत्रोभयवादिप्रतिपन्नज्ञानव्यक्तेरसिद्धत्वादाश्रयासिद्धिः। रजतार्थिनः प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिपरिकल्पिततज्जनकज्ञानमात्रस्य पक्षीकारे प्रमाणबाधः, स्वसमानविषयेष्टसाधनज्ञानजन्यत्वात् प्रवृत्तेः। त्वयाऽप्येतस्य सम्यग्रजतप्रवृत्तावभ्युपगमात्। तत्रापि विवेकाग्रहणमात्रस्यैव प्रयोजकत्वे पदानामन्विताभिधायित्वभङ्गप्रसङ्गः। बालकस्य स्वात्मनि विवेकाग्रहण-

---

में ज्ञान स्वतः निराकार माना जाता है, किन्तु रजतस्वरूप ज्ञान का अर्थ होता है—रजताकार ज्ञान।

४. तृतीय पक्ष में उल्लेख शब्दार्थ को ज्ञान का विशेषण मानने पर स्वरूपासिद्धि दोष होता है, क्योंकि वहां 'रजतम्'—इतना ही ज्ञान होता है, रजतोल्लखि ऐसा ज्ञान नहीं होता। रजतोल्लेखित्व का अर्थ यदि रजत पद-जन्य स्मरण-सम्बन्धित्व किया जाय, तब हेतु व्यभिचारी हो जाता है, क्योंकि पूर्व (इदम्) पद से भी उसका स्मरण हो सकता है।

५. चतुर्थ पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि विवेकाग्रहवादी (प्रभाकर) के मत में शुक्तिविषयक इदम् - यह ज्ञान की प्रवृत्ति का हेतु माना जाता है, किन्तु वहां साध्य (रजतविषयकत्व) नहीं, अतः हेतु व्यभिचारी है। इसी लिए 'रजतमिति ज्ञानं रजतज्ञानम्' इस पक्ष का भी निराकरण हो जाता है, क्योंकि यह पक्ष भी उपर्युक्त चार पक्षों से भिन्न नहीं।

६. यह जो अनुमान किया जाता है कि 'विवादास्पद ज्ञान यथार्थ होता है क्योंकि वह ज्ञान है।' उस अनुमान में आश्रयासिद्धिदोष है, क्योंकि 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के एक विशिष्टज्ञानरूप भ्रम को पक्ष बनाना होगा। वह प्रभाकर मत में प्रसिद्ध नहीं है। आश्रयासिद्धि का स्पष्टीकरण करते हुए आनन्दानुभव ने कहा है—'पराभ्युपगतभ्रान्त्यभ्युपगमेऽपसिद्धान्तः, तदनभ्युपगमेवाश्रयासिद्धिः" (न्या. दी. पृ. १५२)। यदि रजार्थी पुरुष की प्रवृत्ति को देखकर अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति के द्वारा कल्पित उक्त प्रवृत्ति के जनक ज्ञान को पक्ष बनाया जाय, तब उसी अर्थापत्ति प्रमाण से उक्त अनुमान का बाध हो जाता है, क्योंकि प्रवृत्ति के विषयीभूत पदार्थ में इष्ट-साधना के ज्ञान से जन्य प्रवृत्ति हुआ करती है—यह आप (प्राभाकर) भी सत्य रजत की

मात्रात् प्रवृत्तिं पश्यत उत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगानन्तरं प्रवर्तमानमध्यमवृद्धप्रवृत्तेरपि तन्मात्रपूर्वकत्वकल्पनात् । तदकारणीभूतमपि तत्र विशिष्टज्ञानमव्यभिचारबलेन प्रवृत्तिपूर्वक्षणे कल्प्यते । तत्र च शब्दस्य कारणत्वमिति वदतोऽभ्युपगतसिद्धान्तभङ्गः, तस्य च प्रवृत्तिमात्रेणैव कल्पनाभावात् ।

७. चक्षुश्चाक्षुषसत्यज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकम्, इन्द्रियत्वात् त्वग्वत् । विवादपदं स्वस्मारितपदार्थान्वयबोधकम्, आकांक्षासन्निधिमत्पदकदम्बत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत् ।

प्रवृत्ति में मानते हैं । वहां भी उक्त प्रवृत्ति का प्रयोजक विवेकाग्रहण-मात्र है—ऐसा मानने पर आपका अन्विताभिधायित्ववाद भङ्ग हो जाता है, क्योंकि फिर तो व्युत्पित्सु बालक अपनी प्रवृत्ति में विवेका-ग्रहण को ही कारण जानकर उत्तम वृद्ध की गामानय आदि आज्ञा के अनन्तर कर्यरत मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति का भी विवेकाग्रहण को ही कारण मानेगा । प्रवृत्ति का कारण न होने पर भी वहां विशिष्ट ज्ञान अव्यभिचरित होने के कारण प्रवृत्ति के द्वारा पूर्वक्षण में कल्पित होता है और उस विशिष्ट ज्ञान का कारण आज्ञा शब्द होता है-इस प्रकार अन्विताभिज्ञानवाद की रक्षा करने पर अभ्युपगत (शुक्ति-रजत-स्थल पर विशिष्ट ज्ञान न मानने का) सिद्धान्त भङ्ग हो जाता है, क्योंकि वहां भी प्रवृत्ति के द्वारा विशिष्ट ज्ञान मानना होगा । [उसको पक्ष मानने पर अपसिद्धान्त तथा बाध दिखाया जा चुका है ।]

७. [विपर्यय ज्ञान की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है-] चक्षु चाक्षुष सत्य ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान का जनक होता है, क्योंकि वह इन्द्रिय है, जैसे—त्वगिन्द्रिय । यहाँ त्वग् इन्द्रिय चाक्षुष सत्य ज्ञान से अतिरिक्त त्वाच सत्य ज्ञान का जनक होता है-यह प्रभाकर को भी स्वीकृत है, इस दृष्टान्त के द्वारा चक्षु में भी चक्षुष सत्य ज्ञान से भिन्न ज्ञान की जनकता सिद्ध होती है । इस का सामञ्जस्य तभी हो सकता है, जब कि सत्यज्ञान से अतिरिक्त (विपर्यय) ज्ञान माना जाय । प्रत्यक्ष भ्रम के समान शब्द भ्रम (विपर्यय) सिद्ध-करने के लिए अनुमान प्रस्तुत किया जाता है—विवादास्पद (इदं रजतम्—यह वाक्य) अपने पदों के द्वारा स्मारित अर्थों के अन्वय (सम्बन्ध) का बोधक होता है, क्योंकि आकाङ्क्षा और सन्निधि से युक्त पदों का समूह है, जैसे उभय-सम्मत (गामानय आदि) वाक्य । इस अनुमान में योग्यत्व उपाधि है । आशय यह है कि गामानय आदि वाक्य सदैव योग्य (अबाधित) अर्थ के ही बोधक होते हैं, किन्तु प्रकृत में शुक्ति और रजत का तादात्म्य बाधित या अयोग्य अर्थ है, इसका बोधक 'इदं रजतम्'—वाक्य नहीं हो सकता—यह नहीं कह

न च योग्यतावत्त्वमुपाधिः, अनाकांक्षितासन्निहितपदानां योग्यतावत्त्वेऽप्यबोधकत्वात्। आकांक्षासन्निधिभ्यां विशेषणे विशेष्यवैयर्थ्यात्। तस्मादस्त्ययथार्थं ज्ञानम्।

—:०:—

२–अप्रमाज्ञानस्य भेदाः—

१. तच्च लोकप्रवृत्त्यनुसारेण निश्चयानिश्चयभेदेन भिन्नम्। अनिश्चयोऽप्यनध्यवसायः संशय इति। मिथ्या निश्चयो विपर्ययः। विरुद्धकोटिसंस्पर्श्यनिश्चयः संशयः। विरुद्धकोट्यसंस्पर्श्यनिश्चयोऽनध्यवसायः। अस्माभिरप्यनवधारणत्वस्य संशयानध्यवसाययोरभ्युपगतेः। तेन चास्मदुक्तावान्तरभेदस्याभ्युपगतत्वाद् भासर्व-

---

सकते, क्योंकि आकाङ्क्षा और सन्निधि से रहित पदावली योग्यार्थक पदों से घटित होने पर भी किसी अर्थ की बोधक नहीं होती। वहां योग्यतावत्त्व धर्म रहने पर भी अर्थबोधकत्वरूप साध्य के न रहने से उक्त धर्म साध्य का समनियत नहीं है, अतः उपाधि नहीं हो सकता। यदि साध्य-समनैयत्य घटाने के लिए आकाङ्क्षा और सन्निधि को विशेषण बनाकर आकांक्षासन्निधिमत्त्वे सति योग्यतावत्त्व को उपाधि कहें, तब योग्यतावत्त्वरूप विशेष्य दल व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि अन्वयार्थबोधकत्वरूप साध्य के अभाव का अनुमान करने के लिए आकाङ्क्षासन्निधि के अभावमात्र को ही हेतु बनाना होगा। यदि कोई ऐसा उभय-सम्मत दृष्टान्त सुलभ होता, जहां आकाङ्क्षा और सन्निधि के रहने पर भी योग्यतावत्त्व का अभाव होने के कारण अन्वय-बोधकत्व के अभाव को भी साध्याभाव का साधक मान सकते थे, किन्तु ऐसा नहीं, अतः योग्यतावत्त्व व्यर्थ है। इस लिए उक्त निर्दुष्ट अनुमानों के द्वारा अयथार्थ (अप्रमा) ज्ञान सिद्ध हो जाता है।

—:०:—

२. अप्रमाज्ञान के भेद—

१. वह अयथार्थ (अप्रमा या अविद्या) ज्ञान लोक-व्यवहार के अनुसार निश्चय और अनिश्चय भेद से दो प्रकार का होता है। अनिश्चय भी दो प्रकार का होता है—अनध्यवसाय तथा संशय। मिथ्या निश्चय को विपर्यय कहते हैं। विरुद्ध कोटि-युक्त अनिश्चय को संशय तथा विरुद्ध कोटि-रहित अनिश्चय को अनध्यवसाय कहा जाता है। हम अनवधारणरूपता संशय और अनध्यवसाय—दोनों में मानते हैं, अतः हमारे द्वारा प्रतिपादित अवान्तर भेदों से सहमति होने के कारण आचार्य भासर्वज्ञ के साथ हमारा कोई मत-भेद नहीं रह जाता, इसी लिए इन भेदों का विशेष विस्तार नहीं किया जाता। तर्क ज्ञान

ज्ञेन सहास्माकं, नास्ति विप्रतिपत्तिरिति नात्र प्रपञ्च्यते। तर्कस्तु नान्योऽस्ति, अनध्यवसायलक्षणेनैव संगृहीतत्वात्।

—:०:—

३–प्रत्यक्षज्ञानस्य निरूपणम्—

१. चक्षुश्चक्षुर्जन्यसविकल्पकव्यतिरिक्तज्ञानजनकम्, इन्द्रियत्वात्, मनोवत्। विवादपदं प्रत्यक्षम्, वस्तुत्वात् प्रमेयत्वाद्, घटवत्। प्रत्यक्षसामग्र्यसद्भाव उपाधिरिति कश्चित्, तन्न, तस्यापि साधनात्। अनुपपन्नमेतद्, बाधितविषयत्वाद्, बाह्येन्द्रियासम्बद्धविषयत्वात्, मनसो बाह्येऽर्थेऽस्वातन्त्र्यात्। अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति चेत्, न, अतिप्रसङ्गो हि बाधकः स्यात्, तन्नियामकमुखेन साधकोऽपि

भी भिन्न नहीं, क्योंकि अनध्यवसाय के लक्षण से ही संगृहीत हो जाता है। [आचार्य भा सर्वज्ञ ने कहा है—"अनवधारणत्वाविशेषादूहानध्यवसाययोः संशयादनर्थान्तरता" (न्या० भू० पृ० १९) अर्थात् अनध्यवसाय, तर्क तथा संशय—इन तीनों ज्ञानों में अनवधारणता या अनिश्चयरूपता समानरूप से विद्यमान है, अतः उक्त तीनों ज्ञान अनिश्चयात्मक अप्रमा ज्ञान के ही भेद हैं]।

—:०:—

३. प्रत्यक्ष ज्ञान का निरूपण—

१. [पूर्वाचार्यों के अनुसार ही वादिवागीश्वराचार्य भी विद्या या प्रमा ज्ञान के चार भेद मानते हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमिति, ३. स्मृति और ४. आर्ष ज्ञान। इनमें से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का साधक अनुमान दिखाया जाता है—] चाक्षुष सविकल्पक ज्ञान से भिन्न ज्ञान का जनक होता है, क्योंकि इन्द्रिय है, जैसे मन। चाक्षुष सविकल्पक ज्ञान से भिन्न मानस सविकल्पक ज्ञान का जनक मन है। इस दृष्टान्त के ही समान चक्षु में भी चाक्षुष सविकल्पक से भिन्न ज्ञान की जनकता सिद्ध होती है, उसका निर्वाह तभी होगा, जब निर्विकल्पक ज्ञान माना जाय। योगि-प्रत्यक्ष की सिद्धि की जाती है—विवादास्पद वस्तु (दूरस्थ, विप्रकृष्ट, अतीत, अनागत और सूक्ष्म पदार्थ) का अवश्य किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष होता है कि वह, वस्तु या प्रमेय है, जैसे-घट। आचार्य सर्वदेव ने भी कहा है—"धर्मः कस्यचित्प्रत्यक्षः प्रमेयत्वाद् वासोवत्। यस्य प्रत्यक्षः स योगी—(प्र.मं.पृ. ९)। उक्त अनुमान में प्रत्यक्ष सामग्री का असद्भाव उपाधि है—ऐसा कोई कहता है, वह संगत नहीं, क्योंकि सूक्ष्मादि वस्तु के प्रत्यक्ष स्थल पर उसकी सामग्री भी मानी जाती है। फिर भी यदि शङ्का हो कि उक्त अनुमान युक्त नहीं, क्योंकि सूक्ष्मादि

भविष्यति। "आत्मा ज्ञातव्य" इति वाक्यसिद्धो योगजो धर्मः सर्वदर्शित्वादि-फलकः। न च नासौ धर्मकल्पकः, तेन विनाऽनुपपत्तेरभावादिति साम्प्रतम्, योगवतां विशिष्टकुलेऽप्युत्पादस्य तत्वज्ञानोपयोगिनो धर्मविशेषमन्तरेणासम्भवात्। यदाह भगवान् स्वयमेव--"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते" (गी. ६।४१) इति।

२. अस्मदादिज्ञानोत्पत्त्यर्थमिन्द्रियमर्थेन संयोगसमवायावपेक्ष्य यथायोगं करोति। संयुक्तसमवायस्तु न संयोगसमवायव्यतिरेकेणान्योऽस्ति। अन्यथा पदार्थान्तरत्व-प्रसङ्गादिति न प्रपञ्च्यते। नित्यमीश्वरज्ञानं यथार्थापरोक्षमिति प्रत्यक्षम्।

—: ० :—

विषयों की प्रत्यक्षता बाधित है। अर्थात् दूर विप्रकृष्ट आदि पदार्थों के के साथ बाह्य इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं और मन बाह्य विषयों के ग्रहण में स्वतन्त्र नहीं होता, सदैव चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों के सहयोग से ही बाह्य विषयों को छू पाता है, अतः आचर्यों ने कहा है—"परतन्त्रं बहिर्मनः।" अन्यथा (मन को बाह्य विषयों के ग्रहण में स्वतन्त्र मानने पर) अन्धादि को भी रूप का ग्रहण प्रसक्त होगा। तो वह शङ्का उचित नहीं, क्योंकि अतिप्रसङ्ग अवश्य बाधक होता है, किन्तु यदि उसका कोई नियामक प्रमाण उपलब्ध हो, तब वह प्रकृतार्थ का साधक भी होता है। जैसे यहां प्रमाण-सिद्ध योगज धर्म के द्वारा दूरसूक्ष्मादि पदार्थों की प्रत्यक्षता योगी की साधक होती है। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य" (बृह. उ. २।४।६) आदि वाक्य योगजधर्म के कल्पक (साधक) होते हैं, जो कि सर्व-दर्शित्व का साधक है। यदि कहा जाय कि उक्त वाक्य धर्म का कल्पक नहीं, क्योंकि योगज धर्म के विना किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि योग-भ्रष्ट व्यक्तियों का विशेष कुल में जन्म एवं आत्मानुभव योगज धर्म के विना सम्भव नहीं है। जैसा कि भगवान् कृष्ण ने स्वयं ही कहा है—"पावन एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न सत्पुरुषों के घर में योग-भ्रष्ट व्यक्ति जन्म ग्रहण किया करता है।"

२. हम जीवों के प्रत्यक्ष की उत्पत्ति चक्षुरादिगण इन्द्रिय संयोग और समवाय सम्बन्ध की सहायता से यथायोग किया करते हैं। संयुक्त-समवाय सम्बन्ध संयोग और समवाय से भिन्न नहीं होता, अन्यथा उसे अतिरिक्त पदार्थ मानना पड़ेगा। अतः उसका विशेष विस्तार नहीं किया जाता। ईश्वर का ज्ञान नित्य होता है। प्रत्यक्ष का लक्षण होता है-यथार्थापरोक्षम्।

—: ० :—

४–अनुमितिज्ञानस्य निरूपणम्—

१–स्यादेतत्—

अनुमितौ किं प्रमाणमिति चेत्, प्रत्यक्षमिति ब्रूमः। भवति हि वह्निमान् पर्वत इति ज्ञानमिति हि दूरदेशस्थस्य कस्यापि मतिः। तथापि तेन तस्यानुमितित्वं कथमवगम्यते इति मा वोचः, प्रत्यक्षत्वेऽपि समानत्वात्। तत्कारणानुमाने किं प्रमाणमित्यपि न वक्तव्यम्, तत्किं प्रमाणमात्रं सिद्धम्, येन विशेषे प्रश्नः स्यात्? तत्सिद्धौ चानेन प्रमाणेनान्वयव्यतिरेकापरनाम्ना प्रत्यक्षसामग्री प्रविष्टेनान्येन वा सिद्धिरिति यत्किञ्चिदेतत्।

—:०:—

२–व्याप्तिस्वरूपम्—

१. ननु करणं भवद्भिरुच्यमानमनुपपन्नम्, व्याप्तेरभावात्, सिद्धायां वा ज्ञातुमशक्यत्वात्, न; निरुपाधिकसम्बन्धस्य व्याप्तित्वात्।

४–अनुमिति ज्ञान का निरूपण—

१. यहां यह प्रश्न होता है कि अनुमिति में क्या प्रमाण है? उस का उत्तर है—प्रत्यक्ष प्रमाण। अत्यन्त प्रसिद्ध है कि पर्वत में धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान दूरदेशस्थ व्यक्ति को होता है। तथापि वह व्यक्ति उस ज्ञान को अनुमिति क्यों मानता है? यह प्रश्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का प्रश्न तो प्रत्यक्ष में भी हो सकता है। उस अनुमिति ज्ञान के कारणीभूत अनुमान में कौन प्रमाण है? यह भी प्रश्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि कौन प्रमाण है? इस प्रकार विशेष प्रमाण का प्रश्न तभी हो सकता है, जब कि सामान्य प्रमाण प्रसिद्ध हो। उसके प्रसिद्ध होने पर कार्य-कारणभाव के नियामक अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर अपनी सामग्री से उसकी सिद्धि कही जा सकती है।

—:०:—

२–व्याप्ति का स्वरूप—

१. अनुमति ज्ञान का करण जो आप कहते हैं—व्याप्ति-ज्ञान, वह अनुपपन्न है, क्योंकि व्याप्ति का स्वरूप ही सिद्ध नहीं, यदि वह सिद्ध भी हो, तब भी उसका ज्ञान सम्भव नहीं—इस आक्षेप का उत्तर यह है कि निरुपाधिक सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

२. कः पुनरुपाधिरिति चेत्, येन विना ययोः सहभावादर्शनं तत्र येन यस्य व्यभिचारः, स तस्मिन्नुपाधिरिति। दृष्टान्तमात्रव्यापको वा, साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापको वा। स द्विविधः—अन्वयोपाधिर्व्यतिरेकोपाधिरिति। उभावपि शङ्कितौ निश्चितौ च। विवादपदं सत्तारहितं जातित्वात्, सत्तावद्—इत्यत्र सत्तास्वरूपमुपाधिः शंक्यते। अग्निषोमीयहिंसा पापसाधनम्, हिंसात्वाद् - इत्यत्र निषिद्धत्वमुपाधिर्निश्चीयते, साधनेनाविनाभावाभावेऽपि साध्येन सह सुवर्णस्तेयादिषूपाधेरनुगमदर्शनात्। क्षित्यादिकमकर्तृकम्, शरीरिणाऽजन्यत्वाद्, व्योमवद्-इत्यत्राजन्यत्वमुपाधिर्निश्चितः, विशिष्टस्य प्रयोजकत्वकल्पनायां प्रमाणाभावात्। सर्वं कार्यं नित्यप्रयत्नपूर्वकम् कार्यत्वाद् व्यतिरेकेणाकाशवद् इत्यत्राप्रयत्नपूर्वकत्वमुपाधिः। साध्ये विशेषणस्योपादानमन्वयिनि दूषणम्। व्यतिरेकिणि तु तदभा-

---

२. उपाधि क्या है? जिस (आर्द्र इन्धन-संयोग) के विना जिन (अग्नि और धूम) पदार्थों का सहचार नहीं देखा जाता, प्रत्युत जिस (अग्नि) का जिस (धूम) से व्यभिचार होता है, वह (आर्द्रेन्धनसंयोग) वह्नि को हेतु बनाने में उपाधि है। अथवा दृष्टान्त-मात्र-व्यापक तथा साधन का अव्यापक होता हुआ साध्य का व्यापक धर्म उपाधि कहा जाता है। उपाधि के दो भेद हैं—अन्वय उपाधि और व्यतिरेक उपाधि। दोनों के दो-दो भेद होते हैं—शङ्कित और निश्चित। 'विवादास्पद (घटत्वादि) सत्ताजाति से शून्य होता है, क्योंकि वह जाति है, जैसे सत्ता'—इस अनुमान में सत्तास्वरूप उपाधि शङ्कित उपाधि है। 'अग्निषोमीय-हिंसा पाप की जनक होती है, क्योंकि हिंसा है'—इस अनुमान में निषिद्धत्व उपाधि निश्चित उपाधि है, क्योंकि अग्निषोमीय हिंसा में हिंसात्वरूप साधन के रहने पर भी पाप-जनकत्व नहीं, अतः साधन का अव्यापक तथा सुवर्ण-चौर्यादि निषिद्ध कर्मों में साध्य (पाप-जनकत्व) का व्यापक है। सभी पशु-यागों की प्रकृति अग्निषोमीय पशु-याग है, अतः सभी वैध हिंसाएं पक्षान्तर्गत हो जाती हैं, उन से भिन्न निषिद्ध कर्मों में पाप-जनकत्व माना ही जाता है। 'क्षित्यादि कर्तृ-रहित होते हैं, क्योंकि किसी शरीरधारी पुरुष के द्वारा रचित नहीं हैं, जैसे-आकाश—' इस अनुमान में भी अजन्यत्व उपाधि निश्चित उपाधि है। यहाँ शरीराजन्यत्व को उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि शरीर-विशिष्टाजन्यत्व अकर्तृकत्व का प्रयोजक होता है—ऐसी कल्पना में कोई प्रमाण नहीं। 'समस्त कार्य नित्य प्रयत्न-पूर्वक होता है, क्योंकि कार्य है, जो नित्य प्रयत्न-पूर्वक नहीं होता वह कार्य भी नहीं होता, जैसे-आकाश'—इस अनुमान में अप्रयत्न-पूर्वकत्व उपाधि है। साध्य-विशेषण का उपादान अन्वयी अनुमान

वस्य साधनत्वेनोपयोगे तस्य व्यवच्छेदकत्वे नोपयोग इति विशेषणवैयर्थ्यम् । धूमगतकटुकत्वादिवद् दूषणमेव । एतेन शङ्कित पाधिरप्यूह्यः । साध्यसाधनभावश्च व्याप्तिस्थल एव विवक्षित इति । व्यतिरेकेणापि तत्रान्वयिसमानत्वमेवेति चरमलक्षणस्यापि तत्र सम्भवः । न चोपाध्यभावो ज्ञातुं न शक्यते, धर्माणामानन्त्यस्यासिद्धेः । प्रथमपिण्डदृष्टा एव पंचधा धर्मा उपाधित्वेन शंक्यन्ते । अदृष्टानां प्रथमपिण्ड एवाभावेनोपाधित्वानुपपत्तेः । न ह्यविद्यमानं जपाकुसुममुपाधिर्भवति । तेषां पञ्चपिण्डादर्शनेनाभावो निश्चीयते । अतीन्द्रियोपाधिप्रसञ्जनं तु नानुमानमात्रसद्भावेऽपि भवितुमर्हति, निर्बीजत्वात् । अनुमानविशेषे तु वादिप्रतिवाद्यभ्युपगतम्, तत्पदार्थविशेषस्वरूपनिरूपणेन निराकर्तव्यमिति ।

—: o :—

में दोष होता है। व्यतिरेकी अनुमान में साध्याभाव का साधनत्वेन उपयोग होने के कारण साधन की व्यवच्छेदकता में उसका उपयोग नहीं, अतः विशेषण व्यर्थ है। केवल धूमगत कड़ुवाहट के समान वह दोष है। इसलिए शङ्कित उपाधि भी कल्पनीय है। साध्यसाधनभाव व्याप्ति स्थल पर ही विवक्षित होता है, अतः व्यतिरेक से भी अन्वयी की समानता ही है। उपाधि का अन्तिम लक्षण भी व्यतिरेकी में सम्भव है। उपाधि के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि उपाधिरूप धर्म अनन्त होते, तब उन सभी धर्मों के अभाव का निश्चय करना असम्भव होता, किन्तु उनकी अनन्तता सिद्ध नहीं होती। प्रथम पिण्ड-दृष्ट धर्मों में ही पाँच प्रकार से उपाधित्व की शङ्का हो सकती है, किन्तु प्रथम पिण्ड में अदृष्ट धर्म को उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि स्फटिक की सन्निधि में अविद्यमान जपाकुसुम (अड़ौल का फूल) उपाधि नहीं माना जाता। उन धर्मों का पांच पिण्डों में अनुपलम्भ देखकर अभाव का निश्चय किया जा सकता है। अतीन्द्रिय धर्मों को किसी भी अनुमान में उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि उनके उपाधि होने में प्रमाण नहीं। अनुमानविशेष में वादि और प्रतिवादी के द्वारा जो स्वीकृत है, वह सम्बन्धित पदार्थों के विशेष स्वरूपों के निरूपण से निराकरणीय है।

—: o :—

३—परार्थानुमानम्—

३—तत्र प्रतिज्ञाहेतुनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नानात्मकं वाक्यरूपं परार्थानुमानम्। तत्राकांक्षाक्रमेण लौकिकपदप्रवृत्तेः। सिद्धसाध्यतायाश्च परिहारार्थमाश्रयज्ञानस्य च प्रथममाकांक्षितत्वात् प्रथमतः प्रतिज्ञावचनम्। तदनन्तरं हेतोः, तदाश्रयत्वात्। कारणमात्रसिद्धौ विशेषे जिज्ञासायां सत्यामाकांक्षापर्यालोचनया हेतुमात्रस्यैव वचनम्। तदनु धर्मजिज्ञासायां सत्यां व्याप्तेराकांक्षितत्वात् तन्निरूपणम्। तदनन्तर सर्ववाक्यानामेकवाक्यताप्रतिपादनाय साध्यसिद्धेरभिलषितायाः ख्यापनाय निगमनवचनम्। तथा हि शब्दोऽनित्यः, कार्यत्वाद, यत् कार्यं तदनित्यम् यथा घटः, कार्यश्च शब्दः, तस्मात् शब्दोऽनित्यः। पक्षवचनं प्रतिज्ञा, हेतुवचनमपदेशः दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्, दृष्टान्तवचनानन्तरहेतुवचनमुपनयः, उपनयानन्तरं सहेतुकं

३—परार्थानुमान—

प्रतिज्ञा हेतु, निदर्शन (उदाहरण) अनुसन्धान (उपनय) और प्रत्याम्नान (निगमन) रूप पांच वाक्यों के समूह महावाक्य को परार्थानुमान कहते हैं। लौकिक व्यवहार में आकाङ्क्षा के क्रम से पदों या वाक्यों का प्रयोग होता है। अतः सिद्ध-साधनता के परिहारार्थ आश्रय (पक्ष) की प्रथमतः आकाङ्क्षा होने के कारण सर्व-प्रथम प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग होता है। उसके पश्चात् साधन की आकाङ्क्षा होती है, अतः पक्षाश्रित हेतु-बोधक वाक्य का प्रयोग होता है। साध्य के कारण(प्रयोजक) का सामान्यतः ज्ञान होने पर भी विशेष जिज्ञासा की अवस्था में हेतुमात्र का बोधक वाक्य प्रयुक्त होता है। उसके अनन्तर धर्म (हेतु के स्वभाव विशेष) की जिज्ञासा होने पर व्याप्ति का निरूपण उदाहरण और उपनय के द्वारा किया जाता है। उसके पश्चात् सभी वाक्यों की एकवाक्यता प्रदर्शित करने एवं अभीष्ट साध्य की सिद्धि करने के लिए निगमन-वाक्य का प्रयोग होता है। जैसे कि १. शब्दोऽनित्यः, २. कार्यत्वात्, ३. यत् कार्यं तद् अनित्यं यथा—घटः, ४. कार्यश्च शब्दः, ५. तस्मात् शब्दोऽनित्यः। पक्ष-बोधक वाक्य को प्रतिज्ञा, हेतु-बोधक वाक्य को हेतु या अपदेश, दृष्टान्त-वचन को निदर्शन या उदाहरण, उदाहरणोत्तर हेतु-वचन को अनुसन्धान या उपनय तथा उपनय के अनन्तर हेतु-सहित प्रतिज्ञा-वाक्य को निगमन या प्रत्याम्नान कहते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि निगमन-वाक्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रतिज्ञादि वाक्यों को सुन कर प्रतीयमान विशिष्टार्थ की पुनरुक्तिमात्र निगमन में होती है। वह कहना उचित नहीं है, क्योंकि प्रसङ्गादि से अवगत अर्थ का प्रतिपादन कोई दोष नहीं

प्रतिज्ञावचनं निगमनम्। गम्यमानार्थत्वात् निगमनं न प्रयोक्तव्यमिति चेत्, न; तस्यादूषणत्वात्। अन्यथा हेतुमात्रमेव प्रयोक्तव्यं स्याद्, विदुषां विशिष्टार्थस्यार्थादेव प्रतीतेः।

—:०:—

४–अवयवद्वयवादः—

४–वयं तन्न बुध्यामहे, साधनानुपयुक्तवचनस्याधिकत्वात्। प्रतिवादिना हि साधनजिज्ञासा कृता—किं प्रमाणमिति। तत्र यावदङ्गविशिष्टं साधनं, तावद् वक्तव्यम्। अङ्गे च द्वे एव व्याप्तिपक्षधर्मत्वे। न हि ततोऽधिकं प्रवृत्त्यङ्गम्।

माना जाता, नहीं तो केवल हेतु-वाक्य का ही प्रयोग उचित माना जायगा, अन्य अर्थ का बोध तो वादी-प्रतिवादी को प्रकरणादि से ही हो जाता है, अतः प्रतिज्ञादि वाक्य भी व्यर्थ हो जायँगे। इस प्रकार पांच अवयवों का प्रयोग पूर्वाचार्यों ने न्याय-सङ्गत ठहराया है। [जैसा कि आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है—'अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः" (प्र० भा० पृ० ११४)]।

—:०:—

४–दो अवयवों का समर्थन—

किन्तु हम (वादिवागीश्वराचार्य) यह नहीं समझ पा रहे हैं कि प्रसङ्गतः अवगत अर्थ का प्रतिपादन पुनरुक्त दोष क्यों नहीं ? अभीष्ट अर्थ के साधन-प्रयोग में अनुपयुक्त वाक्यों का प्रयोग युक्ति-सङ्गत नहीं कहा जा सकता। प्रतिवादी साधनमात्र की जिज्ञासा करता है—कि प्रमाणम् ? उसकी जिज्ञासा का प्रशमन करने के लिए उतने ही अङ्गों का प्रदर्शन करना चाहिए, जितने साधनोपयोगी हों। साधनोपयोगी अङ्ग दो ही हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। उससे अधिक कुछ कहना साधक की प्रवृत्ति को अधिक सक्षम नहीं बना सकता। अधिक अवयवों के प्रयोग की आवश्यकता भी क्या ? [यहां शङ्का होती है कि हेतु में पक्ष-सत्त्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षासत्त्व, असत्प्रतिपक्षितत्व और अबाधितत्व—इन पांच अर्हताओं की सिद्धि परमावश्यक है। नहीं तो उसे असिद्धि, विरोध, अनैकान्तिकत्व, बाध और सत्प्रतिपक्षितत्व–इन पांच हेत्वाभास दोषों से निर्मुक्त नहीं किया जा सकेगा। अतः कथित पांच धर्मों के प्रदर्शनार्थ प्रतिज्ञादि पांच अवयवों का प्रयोग आवश्यक है। व्याप्ति और पक्षधर्मता के प्रदर्शन से असिद्धि, विरोध और अनैकान्तिकत्व—

तदधिकभूतं ज्ञातव्यं किमस्ति ? कालात्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेऽन्तर्भावात् । निरुपाधिकानुमानद्वयस्य चैकत्रासम्भवात् । सम्भवे वा वस्तुनो द्वयात्मकत्वं को निवारयेत् ? निरुपाधिकस्य साध्यपरित्यागे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात् । तदेवं स्थिते रूपद्वये, तत्प्रतिपादनार्थं वचनद्वयमेव वक्तव्यम्, हेतोः पक्षधर्मतावचनेन विशिष्ट-वाचिना तत्सिद्धेः । तस्माद् यत् कार्यम्, तदनित्यं यथा घटः, कार्यश्च शब्द—इत्यन्वयिनि । यन्नित्यम्, तदकार्यं यथा व्योम, कार्यश्च शब्द—इति व्यतिरेकिणि । तस्मादवयद्वयमेव प्रयोक्तव्यम् । अन्वयव्यतिरेकीत्यपरो नेष्यते, एकेनैवानुमिति-

---

इन तीन दोषों की निवृत्ति हो जाने पर भी बाध और सत्प्रतिपक्ष का परिहार करने के लिए निगमन-प्रयोग के द्वारा अबाधित्व और असत्प्रतिपक्षितत्व की सिद्धि अनिवार्य है। इस शङ्का का समाधान मानमनोहरकार करते हैं—]कालात्ययापदिष्ट (बाध) दोष का अन्तर्भाव अनैकान्तिक में ही हो जाता है और सत्प्रतिपक्ष नाम का दोष सम्भव ही नहीं है, क्योंकि एक धर्मी में परस्पर विरोधी धर्मों को सिद्ध करने के लिए दो निरुपाधिक सद्धेतुओं की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। यदि हो जाय तो उनके द्वारा एक ही वस्तु में दो विरोधी आकार सिद्ध हो जांयगे। और यदि निरुपाधिक हेतु के द्वारा अपने साध्य की सिद्धि नहीं होती, तब उसके स्वभाव को तिलाञ्जलि देनी होगी, जिससे वह कहीं पर भी अपनी अर्थक्रिया में सक्षम न हो सकेगा। इस प्रकार व्याप्ति और पक्षधर्मतारूप दो धर्मों की ही सिद्धि आवश्यक है। उनका प्रतिपादन करने के लिए दो वाक्यों का ही प्रयोग करना चाहिए। हेतु में व्याप्ति-विशिष्ट पक्षधर्मता के बोधक वाक्यों के द्वारा उक्त दो धर्मों की सिद्धि होती है। अतः जो जन्य होता है, वह अनित्य होता है, जैसे—घट और शब्द जन्य है—इस प्रकार अन्वयी हेतु में प्रयोग करना चाहिए तथा व्यतिरेकी हेतु में इस प्रकार जो नित्य होता है वह अजन्य होता है, जैसे—आकाश, किन्तु शब्द जन्य है। [श्रीचित्सुखाचार्य ने अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के इस क्रान्तिकारी सुझाव को ही अपनी सिद्धान्त-भित्ति का धरातल मान लिया है—'साधनानुपयुक्त-वचनस्याधिकनिग्रहत्वात्। तथा हि—वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रति-पक्षसमयबन्धस्वीकारसमनन्तरं प्रतिवादिनः किं प्रमाणमिति प्रमाणे एव जिज्ञासा। यावदङ्गविशिष्टं च प्रमाणं तावदेव वक्तव्यम्। अङ्गं च द्वयमेव—व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति। तच्चोभयमुदाहरणोपनयाभ्यामेवा-भिहितमिति किमपरमवशिष्यते यदर्थमुपाददीत ?" (चित्सु. पृ. ४०१)। वैशेषिक सूत्रों के एक वृत्तिकार ने सौगतमत-समीक्षा के साथ-साथ वादिवागीश्वर की भी समालोचना की है—"सौगतवादिवागीश्वरादयस्तु

सिद्धौ समुदितस्य हेतुत्वे प्रमाणाभावात् । अविनाभावजनितपरोक्षानुभवोऽनुमितिः, तत्साधकतममनुमानम् । तल्लक्षणरहितं तत्सदृशमनुमानाभासम् ।

—:०:—

५–हेत्वाभासाः—

तच्चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकभेदभिन्नम् —

१. अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः—शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वादिति । स चोभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ।

२. पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानो हेतुर्विरुद्धः—नित्यः शब्दः कार्यत्वादिति । असाधकत्वज्ञापकत्व हि दूषणम् । साध्यविपरीतानौपाधिकसम्बन्धितया विरुद्धस्य

यो धूमवानसावग्निमान् यथा महानसं, धूमवांश्च पर्वत इत्यन्वयद्वयमेव प्रयोक्तव्यमित्याहुः । तदयुक्तम्, धर्मिसाध्यसाधनाद्यप्रतीतौ व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरेवावगन्तुमशक्यत्वात्" (वै. वृ. पृ. ३६)। अन्वयव्यतिरेकी नाम का तीसरा हेतु मानना वाञ्छनीय नहीं, क्योंकि एक हेतु से ही जब अनुमिति सिद्ध हो जाती है, तब अन्वयव्यतिरेकीरूप मिलित हेतु मानने में कोई प्रमाण नहीं। अनुमिति का लक्षण होता है–'अविनाभावजनितपरोक्षानुभवोऽनुमितिः।' उसके प्रधान साधन को अनुमान प्रमाण कहते हैं। इस लक्षण से रहित तथा तत्सदृश अनुमान को अनुमानाभास कहा जाता है।

—:०:—

५–हेत्वाभास—

१. अनुमानाभास या हेत्वाभास के तीन भेद होते हैं– १. असिद्ध, २. विरुद्ध और ३. अनैकान्तिक।

१. जिस हेतु की पक्ष-वृत्तिता सिद्ध (निश्चित) न हो, उसे असिद्ध कहते हैं। जैसे 'शब्दो नित्यः, चाक्षुषत्वात्'–यहां चाक्षुषत्व हेतु असिद्ध है। वह उभयवादी के मत से असिद्ध होने पर उभयासिद्ध और अन्यतर वादी के मत में असिद्ध होने पर अन्यतरासिद्ध कहा जाता है।

२. पक्ष और विपक्ष दोनों में ही रहनेवाले हेतु को विरुद्ध कहते हैं। जैसे 'शब्दो नित्यः, कार्यत्वात्'–यहाँ पर कार्यत्वरूप हेतु पक्ष (शब्द) और विपक्ष (घटादि) में ही रहता है, सपक्ष (आकाशादि)

लिङ्गता। ननु साध्यविपरीतगामिता क्वचिद् व्यभिचरति, येनानौपाधिकत्वे समर्थं स्यादतो विशिष्टं न दूषणमिति चेत्, तन्न; जल्पवादयोर्हि परसाधनं निवर्त्य स्वपक्षे साधनं वाच्यम्, अतो लाघवाय विशिष्टोपन्यासः। साधनान्तरं तु न वाच्यमेव। वितण्डायां तु विपक्षवृत्तिता परमुद्भाव्या, अनुमित्युत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं च दूषणम्।

३, साध्यतदभावयोर्वर्तमानत्वेन ज्ञातोऽनैकान्तिकः। स च निश्चितः, शङ्कितश्च। स कः? अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वादिति निश्चितः। मनो विभु, सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वादिति शङ्कितः, सोपाधिकत्वात्।

—: ० :—

में नहीं रहता, अतः विरुद्ध है। विरुद्ध हेतु में वादि-सम्मत साध्य की साधकता न होने के कारण हेत्वाभासता भी है और साध्याभाव का अनौपाधिक सम्बन्धी होने के कारण प्रतिवादी के लिए सद्धेतुता भी है। यहाँ सन्देह होता है कि विरुद्ध के लघु लक्षण (विपक्षवृत्ति) को छोड़कर पक्षसपक्षमात्र-वृत्तिरूप गुरु लक्षण को तभी अपनाया जा सकता था, जब कि विपक्ष-वृत्तित्व पक्षसपक्षमात्र-वृत्तिता से व्यभिचरित होता, तब उसे अनौपाधिक मानकर विपरीत अर्थ के साधन में सद्धेतु मानते। अतः विशिष्ट दोष नहीं होता। तो वह सन्देह उचित नहीं, क्योंकि वाद और जल्प कथा में परकीय साधन का निराकरण करके स्वकीय पक्ष का साधन करना होता है, अतः लाघवार्थ विशिष्ट अर्थ का उपन्यास किया गया है। वहां साधनान्तर का प्रयोग वर्जित है। वितण्डा में तो विपक्ष-वृत्तिता की उद्भावना होती है। अनुमिति की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक होने के कारण विरुद्ध को हेत्वाभास कहा जाता है।

३. साध्य और साध्याभाव के आधार में प्रतीत होनेवाला हेतु अनैकान्तिक कहा जाता है। वह दो प्रकार का होता है– १. निश्चित और २. शङ्कित। 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्'—यहाँ प्रमेयत्व हेतु निश्चित अनैकान्तिक और 'मनो विभु सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वात्'—यहाँ सर्वदा स्पर्शरहितद्रव्यत्वरूप हेतु शङ्कित अनैकान्तिक है, क्योंकि अमूर्तत्व उपाधि से युक्त होने के कारण वह सोपाधिक है।

—: ० :—

६–दृष्टान्ताभासाः—

दृष्टान्ताभासास्तु साध्यविकलसाधनविकलव्याप्त्यकथनविपरीतव्याप्तिकथनाश्रयहीनाः। साधर्म्योदाहरणवैधर्म्योदाहरणे साध्यव्यावृत्तसाधनव्यावृत्ताव्याप्तिकथनविपरीतव्याप्तिकथनादीनामुदाहरणानि तु प्रशस्तपादैरभिहितानीति न प्रपञ्च्यन्ते। उभयविकलस्तु नास्ति, तस्य साध्यसाधनविकलाभ्यामनतिरेकात्। न हि कालात्ययापदिष्टानैकान्तिकत्वं नाम समुदितमस्ति दूषणम्।

—: ० :—

५–आर्षज्ञानस्य निरूपणम्—

१. आर्षसद्भावे किं प्रमाणमिति चेत्, प्रत्यक्षमिति ब्रूमः। अस्ति तावद् विप्रतिपन्ना प्रतिभा कश्चिदर्थाविसंवादिनी। तस्या अनधिगतार्थगन्तृत्वादनुभूतित्वं सिद्धम्। न चैतदतिरिक्तं प्रामाण्यं नाम यत् साधनीयमवशिष्यते। न चार्थाविसंवादित्वमेव नास्ति, बाधकाभावात्। न च प्रतिभात्वादर्थविसंवादः, अपरोक्षत्वात्। अन्यथा प्रत्यक्षस्यार्थविसंवादप्रसङ्गात्। ननु ज्ञानाविसंवादित्वग्राहकप्रत्यक्षेण तत्पूर्वकाबाधिततत्प्रवृत्तिभ्यां तज्ज्ञानविषयीकृतार्थस्य यथार्थस्य

६–दृष्टान्ताभास—

दृष्टान्ताभास पांच होते हैं—१. साध्य-रहित, २. साधन-रहित, ३. व्याप्ति-कथनाभाव, ४. विपरीत व्याप्ति-कथन और ५. आश्रय-हीन। साधर्म्यनिदर्शनाभास, वैधर्म्य-निदर्शनाभास, साध्य-विकल, साधन-विकल, अव्याप्ति-कथन, विपरीत व्याप्ति-कथन आदि के उदाहरण प्रशस्तपादाचार्य ने अपने भाष्य में दिये हैं, अतः यहां उनका विशेष विस्तार नहीं किया जाता। साध्य और साधन उभय से रहित दृष्टान्त को पृथक् दृष्टान्ताभास नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें प्रत्येक विकल का रहना निवार्य है। उसी प्रकार बाध और अनैकान्तिक दोनों का समूह कोई पृथक् दोष नहीं माना जाता।

—: ० :—

५–आर्ष ज्ञान का निरूपण—

१. आर्ष ज्ञान के सद्भाव में क्या प्रमाण? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा कहना है—प्रत्यक्ष प्रमाण। प्रत्यक्षतः देखा जाता है कि विवादास्पद (आर्ष) प्रतिभा पूर्णतया अर्थाविसंवादिनी (यथार्थ) पायी जाती है। वह अनधिगत अर्थ की प्रकाशिका होने से अनुभूतिरूप सिद्ध होती है। इससे अतिरिक्त और प्रामाण्य क्या, जिसका सिद्ध

क्रियाकारित्वेन बाधितविषयत्वादनुमानस्यैव दुर्बलत्वमिति चेत्, समः समाधिः। प्रतिभात्वाविशेषेऽपि कथमेकस्य संवादित्वम्, अपरस्य विसंवादित्वमिति चेत्, न; अपरोक्षत्वाविशेषेऽपि प्रत्यक्षस्य कस्यचित्संवादित्वं विसंवादित्वं कस्यचिदिति कुतः ? अवान्तरवैजात्यादिति चेत्, तुल्यमस्तु प्रतिभायां प्रामाण्यम्।

२. तथापि पूर्वयोरन्तर्भाव इति चेत्, न; अविनाभावानपेक्षत्वेनानुमितावनन्तर्भावात्। परोक्षत्वान्न च प्रत्यक्षम्। कथं पुनरस्याः परोक्षत्वमिति चेत्, अनुमितेरपि परोक्षता कथम् ? इन्द्रियव्यापाराभावे उत्पद्यमानत्वादिति चेत्, समानमेतत्। अन्तःकारणस्य व्यापारोऽस्तीति चेत्, समानम्। धर्मविशेषजत्वाद् योगिप्रत्यक्षान्तर्भूतमिति चेत्, न; धर्मविशेषजत्वासिद्धेः। धर्मविशेषमात्रजन्यत्वस्य व्यभिचारात्। अविनाभावनिरपेक्षः सम्यक् परोक्षानुभव आर्षः।

३. स्वसमानविषयसंस्कारजं स्मरणम्। यथार्थस्य प्रमाणभावे नास्ति विप्रतिपत्तिः, परैरपि तस्य सम्यगनुभवत्वाभ्युपगमात्, तार्किकैरपि यथार्थज्ञानत्वस्य

करना शेष रहा ? आर्ष प्रातिभ ज्ञान में अर्थाविसंवाद ही नहीं—यह नहीं कह सकते, क्योंकि उसका बाध नहीं होता। प्रतिभा होने के नाते अर्थविसंवादिनी है—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह अपरोक्ष है। उसे अर्थाविसंवादी मानने पर प्रत्यक्ष ज्ञान को भी अर्थाविसंवादी मानना होगा।

२. अर्थाविसंवादी होने पर भी प्रतिभा का प्रत्यक्ष या अनुमान में अन्तर्भाव क्यों न मान लिया जाय – यह सन्देह नहीं कर सकते क्योंकि व्याप्ति-निरपेक्ष होने के कारण प्रतिभा का समावेश अनुमान में नहीं किया जा सकता और परोक्ष ज्ञान होने के कारण प्रत्यक्ष में भी अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। प्रातिभ ज्ञान में परोक्षता क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए जिज्ञासा होती है कि अनुमिति ज्ञान में परोक्षता क्यों ? यदि कहें कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना उत्पन्न होने के कारण अनुमिति को परोक्ष माना जाता है तब प्रातिभ ज्ञान में भी वही बात है। अन्तःकरण के व्यापार की अपेक्षा भी दोनों में समानरूप से पायी जाती है। धर्म-विशेष से प्रसूत होने के कारण आर्ष ज्ञान का योगि-प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आर्ष ज्ञान किसी धर्म-विशेष से जनित नहीं होता। यदि किसी एक आर्ष ज्ञान में धर्मविशेष-जन्यता मान भी लें, तब भी सर्वत्र विशेष धर्म की जन्यता नहीं है। अतः व्याप्ति-निरपेक्ष सम्यक् परोक्ष अनुभव को आर्ष ज्ञान कहा जाता है।

३. स्वसमानविषयक संस्कार से जन्य ज्ञान को स्मरण कहते हैं। यथार्थ स्मरण की प्रमाणता में किसी का वैमत्य नहीं, क्योंकि अन्य

तत्रानिराकरणात् । तस्मात् सम्यगनुभवः प्रमेति पूर्वाचार्याः । यथार्थं ज्ञानं प्रमेति नवीनाः । अदमेव च भाष्यकर्त्तुरभिप्राय, अन्यथा प्रमाणमध्ये तत्पठनमसङ्गतं स्यात् । न हि प्रमितिविद्याशब्दयोर्लोकेऽर्थभेदोऽस्ति । तस्माच्चतुर्विधं प्रमाणम् । (तथा श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानचतुष्टयमिति ।)

—:०:—

६–शब्दप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावनिरूपणम्—

ननु ततोऽतिरिक्तान्यपि शब्दादीनि सन्तीति चेत्, न अप्रसिद्धेः । नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्तीति वाक्यादर्थप्रत्ययो जायते इति चेत्, अत्र कस्य कारणत्वमिति विभाव्यताम्—न प्रत्यक्षस्य, अर्थस्याविस्पष्टत्वात् । नानुमानस्य व्याप्तेरभावात् । न हि नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्तीति वाक्येन नदीतीरफलसम्बन्धस्या-

---

दार्शनिक भी उसे सम्यक् अनुभव मानते हैं, तार्किकगण भी स्मरण को यथार्थ ज्ञान कहते हैं। इसी लिए पूर्वाचार्य सम्यक् अनुभव को प्रमा और नवीन विद्वान् यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहा करते हैं। यही भाष्यकार (प्रशस्तपाद) का अभिप्राय है, नहीं तो प्रमाणों के मध्य में स्मरण का पाठ संगत नहीं होगा [किन्तु आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है—"विद्यापि चतुर्विधा—प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा" (प्र. भा. पृ. ९४)]। लोक में प्रमिति और विद्या शब्दों का कोई भेद नहीं माना जाता, दोनों पर्याय-वाची कहे जाते हैं। अतः प्रमा ज्ञान चार प्रकार का ही होता है।

—:०:—

६–शब्दप्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव—

कथित चार प्रमाणों से अतिरिक्त शब्दादि प्रमाण भी हैं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उनकी प्रमाणता ही सिद्ध नहीं होती। 'नदी के तट पर पांच फल हैं'—ऐसे वाक्यों से अर्थ-प्रतीति होती है, अतः उक्त वाक्य प्रमाण क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह जिज्ञासा होती है कि उक्त वाक्यों में किस प्रकार के प्रमा ज्ञान की कारणता है ? प्रत्यक्ष प्रमा की कारणता नहीं कह सकते, क्योंकि उनसे उत्पन्न ज्ञान अस्पष्ट होता है, विशद (प्रत्यक्ष) नहीं। अनुमिति प्रमा की कारणता भी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि वहाँ व्याप्ति-ज्ञान नहीं होता। यदि उक्त वाक्य का अपने अर्थ के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध (व्याप्ति) निश्चित हो, तब अर्थज्ञान को अनुमितिरूप कह सकते थे, किन्तु ऐसा नहीं,

व्यभिचरितः सम्बन्धः, अनाप्तवाक्ये तदभावात् । आप्तत्वे सतीति विशेषणे पूर्वमर्थसिद्धेरसिद्धो वाक्यार्थः, सम्यग्ज्ञानवत एव तत्वात् । तदेतदसत्, पुरुषविशेषोक्तत्वस्य हेतुविशेषणत्वेनैवोपादानात् । तेन च प्रोक्तस्याप्यनुमानान्नाप्रयोजकता । यत्र तु तदुक्तस्यापि व्यभिचारः क्वचित्, तत्र तद्व्यतिरिक्तत्वे सतीत्यपि विशेषणम्, विशिष्टस्य व्याप्तिबलेन साधनत्वम् । यत्र तु व्यभिचारस्थलं स्यात्, तत्र नार्थनिश्चयः, किन्तु सन्देह एव, एतावतापि लौकिकानामर्थे सन्देहादेव प्रवृत्तिसिद्धेः ।

—: ० :—

७–वेदानां पौरुषेयत्वनिरूपणम्

१. वेदस्य पुरुषविशेषकृतत्वाभावेन कथमनुमानमिति चेत्, तर्ह्याप्तोक्तत्वस्याप्यभावेनाप्रामाण्यप्रसङ्गात् । न च स्वतः प्रामाण्ये वेदस्य, सम्यङ्मिथ्याबोधसाधारणातिरिक्तकारणजन्यत्वात् । तथा हि—प्रमा सम्यङ्मिथ्यावोधसाधारणातिरिक्त-

---

क्योंकि अनाप्त व्यक्ति के द्वारा उच्चरित उक्त वाक्य स्वार्थ-व्यभिचारी होता है। आप्तोच्चरित वाक्य को अर्थाव्यभिचारी कहा जाय, तब कुछ लोगों का जो यह कहना है कि उक्त वाक्य के अर्थज्ञान के पूर्व वाक्यार्थ ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वाक्यार्थ-ज्ञान वाले पुरुष को ही आप्त कहा जाता है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि पुरुष-विशेष (आप्त) के द्वारा उच्चरितत्व धर्म अर्थानुमिति के हेतुभूत शब्द का विशेषण रखा गया है, शब्द में प्रत्यक्षतः निश्चित न होने पर भी आप्तोच्चरितत्व का अनुमान किया जा सकता है, वह अप्रयोजक नहीं। जहाँ कहीं आप्तोच्चरित वाक्य का भी अपने अर्थ से व्यभिचार देखा जाता है, वहाँ तद्वाक्यभिन्नत्वे सति यह विशेषण भी दिया जाता है। सभी विशेषणों से विशिष्ट वाक्य को व्याप्ति के बल पर साधन (वाक्यार्थानुमिति का हेतु) बनाया जाता है। जहाँ वाक्य अर्थ-व्यभिचारी होता है, वहां वाक्य से अर्थ-निश्चय नहीं होता, किन्तु सन्देह ही होता है। इतने से भी व्यावहारिक पुरुषों की व्यवहार में सन्देहमूलक प्रवृत्ति हो जाती है।

—: ० :—

७–वेदों की पौरुषेयता—

१. वेद पुरुष-विशेष (आप्त) के द्वारा रचित नहीं, अतः उससे वेदार्थ का अनुमान कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि वेद आप्तोच्चरित नहीं, तब वह प्रमाण भी नहीं हो सकेगा। वेदार्थज्ञान स्वतः (कारण-निरपेक्ष) प्रमाण है–ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह सत्य

कारणजन्या, कार्यत्वाद्, अप्रामाण्यवत्। सम्यक्त्वं नियतज्ञानेऽपि कदाचित् न निर्णीयते, निश्चयत्वानिश्चयेऽपि सन्देहविषयत्वाद्, अप्रमावत्। विवादास्पदं कार्यम्, वेदजन्यमतिजम्, कार्यत्वाद्, घटवत्। ईश्वरकृतत्वाविशेषेऽपि बुद्धादिवाक्यानामागन्तुकदोषसमवधानादप्रामाण्यम्, बुद्धादीनामनाप्तत्वात्। वेदार्थो वेदनिरपेक्षप्रमितिवेद्यो, मेयत्वाद्, घटवत्। वेदार्थो वेदनिरपेक्षस्वालम्बनमत्याधारविरचितवाक्यमेयो मेयत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत्। यच्च

२. वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाऽध्ययन यथा ॥ (मी.श्लो.वा. वाक्या, ३६६)

और मिथ्या ज्ञान के साधारण कारण से भिन्न कारण के द्वारा उत्पादित होता है। [ज्ञानों में परतः प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग किये जाते हैं—] सभी अनीश्वर प्रमा ज्ञान, सत्यासत्य ज्ञान के साधारण कारण से भिन्न कारण के द्वारा जनित होते हैं, क्योंकि वे कार्य (जन्य) होते हैं, जैसे अप्रमा ज्ञान। [ज्ञान की सामान्य सामग्री से अतिरिक्त दोषरूप कारण से अप्रमा ज्ञान जैसे उत्पन्न होता है, वैसे ही आप्तोच्चरितत्वादि गुणों से प्रमा ज्ञान की उत्पत्ति सिद्ध होती है]। [प्रमात्व धर्म निश्चयत्व से भिन्न होने के कारण भी परतः ज्ञात होता है—] प्रमात्व निश्चयात्मक ज्ञान में कभी-कभी निश्चित नहीं होता, क्योंकि निश्चयत्व का निश्चय रहने पर भी सन्दिग्ध रहता है, जैसे—अप्रमात्व। [वेदार्थ को जन्य सिद्ध किया जाता है—]। विवादास्पद (यागादि) कार्य, वेद-जन्य ज्ञान से जनित होता है, क्योंकि कार्य है, जैसे घट। यद्यपि कार्यमात्र का ईश्वर साधारण कारण है—इस दृष्टि से बौद्ध आगम भी ईश्वर-कृत हैं, तथापि आगन्तुक (अनाप्तोच्चरितत्वरूप) दोष के कारण प्रमाण नहीं माने जा सकते, क्योंकि उसके प्रणेता बुद्धादि अनाप्त थे। [ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध किया जाता है—] वेदार्थ वेद-निरपेक्ष प्रमा का विषय होता है, क्योंकि प्रमेय है, जैसे—घट [घटरूप दृष्टान्त में वेद-निरपेक्ष जैव प्रत्यक्ष ज्ञान की विषयता है, किन्तु वेदार्थभूत अदृष्टस्वर्गादि में जिस जैव ज्ञान की विषयता होगी, वह वेद-निरपेक्ष नहीं, अतः वैसा ईश्वरीय ज्ञान ही मानना होगा। अर्थं बुद्ध्वा वाक्यरचना—न्याय से वेदार्थ-ज्ञान-सम्पन्न परमेश्वर ही वेदों की रचना कर सकता है—] यागादिरूप वेदार्थ, वेद-निरपेक्ष स्वाधीन ज्ञान के आधार (ईश्वर) द्रव्य के द्वारा रचित वाक्यों से अनुमेय होता है, क्योंकि प्रमेय है, जैसे उभय-सम्मत पदार्थ।

२. यह जो कुमारिल भट्ट ने अनुमान किया है कि समस्त वेदाध्ययन अपनी गुरु-परम्परा से ही गृहीत होता आया है, क्योंकि वेद

तत्र च गुर्वध्ययनपूर्वकत्वमात्रे सिद्धसाध्यता। ब्रह्मणोऽपि जीवविशेषस्य सुप्तप्रबुद्धवत् कल्पान्तरानुभूतवेदस्मरणात्। न च प्रवाहाविच्छेदादप्रणेतृपूर्वकत्वप्रसङ्गः उच्चार्यमाणवाक्यसदृशवाक्यज्ञाननिरपेक्षस्यैव तत्र कर्तृत्वाभ्युपगमात्। स्वतन्त्र-पुरुषप्रणेतृत्वविवक्षायां तु साध्यविकलत्वम्। उभयवादिसम्प्रतिपन्नपक्षाङ्गीकारेऽपि सिद्धसाध्यता। अपरत्र चाश्रयासिद्धिः। भारताध्ययनादेरपि एवं कुशंक्यत्वात्। तत्सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति तु मम? तव? उत यस्य कस्य

का अध्ययन है, जैसे आज-कल का वेदाध्ययन। आशय यह है कि आजकल के समान ही वेद सदैव अनादि गुरु-परम्परा से अधीत होता है, कभी किसी व्यक्ति ने उसकी रचना नहीं की है। इस कौमारिल अनुमान-प्रयोग में गुर्वध्ययनपूर्वक वेदाध्ययन पक्ष है, अथवा स्वरचित वेदाध्ययन या उभय-सम्मत वेदाध्ययन अथवा इन पक्षों से अतिरिक्त कोई वेदाध्ययन? प्रथम पक्ष में सिद्ध-साधनता है, क्योंकि ब्रह्मा भी एक जीव-विशेष है, जिसने पूर्व कल्प में अपनी गुरु-परम्परा से जो वेद प्राप्त किया था, प्रलय की चिर निद्रा से जागकर उसी का स्मरण करके वेद का उच्चारण (अध्ययन) करता है। द्वितीय पक्ष में साध्य का बाध है, क्योंकि परमेश्वर ने गुरु-परम्परा से वेद प्राप्त नहीं किया, उसका उच्चारण गुरूच्चारणपूर्वक नहीं है। तृतीय पक्ष में भी सिद्ध-साधना है। चतुर्थ पक्ष में आश्रयासिद्धि दोष है, क्योंकि उक्त पक्षों से अतिरिक्त कोई वेदाध्ययन सिद्ध ही नहीं होता। फिर भी यदि वेद को अपौरुषेय मानने का आग्रह किया जाता है, तब महाभारत आदि में भी उसी प्रकार अपौरुषेयता की कुशङ्का की जा सकती है [जैसा कि चित्सुखाचार्य ने कहा है—

भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
भारताध्ययनत्वेन साम्प्रताध्ययनं यथा॥ (चित्सु. पृ. २७०)]

'वेदोऽपौरुषेयः सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्'—इस अनुमान में प्रयुक्त हेतु-घटक अस्मर्यमाणकर्तृकता किसकी विवक्षित है—हमारी (वैशेषिक की)? आपकी (मीमांसक की)? या जिस-किसी की भी? अथवा सर्व-साधरण की? प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पक्ष में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि उक्त तीनों पक्षों में हम (वैशेषिकाचार्य) प्रविष्ट हैं, जिनके स्मृति-पटल पर अङ्कित पुरुष-सूक्त की यह पदावलि जगमगाती रहती है—"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥" (ऋ. १०. ९०. ९)। द्वितीय पक्ष में हेतु

साधारण्येन वेति ? प्रथमतृतीयचतुर्थेष्वसिद्धिः । द्वितीये तु व्यभिचारः । अत एव मदनुमाने ……………अन्यथा सिद्धसाधनत्वाद् अकार्यत्वं चौपाधिः ।

—: ० :—

८-उपमानप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावनम्—

१. उपमानं तु मदीया गौरनेन सदृशीति गोसदृशगवयमालोकयतोऽनुमानमेव । कथमिति चेत्, भवति हि पूर्वं गवि गवयसादृश्यमित्यनुमितिः । अनुगतधर्मस्य गवयेऽपि वर्तमानस्य प्रत्यक्षग्रहणार्हत्वात्, मानान्तरोपनीतस्यापि विशेषणत्वोपपत्तेः ।

२. अथवा मदीया गौरनेन सदृशी, स्वसादृश्येनैतदवच्छेदकत्वाद्, भ्रातृभगिनीवत् । अन्यथा गवयसादृश्यस्याप्यग्रहणप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षमते तदनु विशेषणविशे-

---

व्यभिचारी है, क्योंकि आप (मीमांसकों) की अस्मर्यमाणकर्तृकता जीर्णतम वापी, कूप, देवालय – आदि में होने पर भी अपौरुषेयता नहीं, अपि तु पुरुष-प्रणीतत्व ही सर्व-सम्मत होता है। [इस के पश्चात् एक पङ्क्ति खण्डित सी है ?] ।

—: ० :—

८-उपमान का भी अनुमान में अन्तर्भाव—

१. हमारी गौ इस गवय के सदृश है—इस प्रकार का उपमान भी अनुमान ही है, क्योंकि गौ में गवय के सादृश्य का ज्ञान निश्चितरूप से अनुमिति है। सादृश्य एक अनुगत धर्म है, जो गौ और गवय दोनों में रहता है। आरण्यस्थ पुरुष सन्निकृष्ट गवय में उसी सादृश्य धर्म का प्रत्यक्ष करता है कि यह गवय गो के सदृश है। यद्यपि गो सन्निकृष्ट नहीं, तथापि दृश्यमान सादृश्य का गो को विशेषण मानने में कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि प्रमाणान्तर से उपस्थित (गो) पदार्थ का लौकिक सन्निकर्ष के विना भी उपनीत (विशेषणरूप से) भान माना जाता है।

२. अथवा हमारी गौ इस गवय के सदृश है, क्योंकि वह स्वगत सादृश्य के द्वारा इस गवय का अवच्छेदक (व्यावर्तक) है, जैसे—भ्राता और भगिनी। [न्यायलीलावतीकार ने भी ऐसा ही अनुमान दिखाया है—"स गौरनेन सदृशः, स्वसादृश्येनेतदवच्छेदकत्वात्, यदेवं तदेवं यथा भ्राता भगिनीति" (न्या. ली. पृ. ५७)। सम्भवतः यह प्रयोग वल्लभाचार्य का ही है, किसी टिप्पणीकार की कृपा से यहाँ जुड़ गया है, अतः इसके मध्य में आ जाने से आगे का 'अन्यथा' ग्रन्थ

व्यभावस्य कामचारत्वदर्शनेन सादृश्यावच्छिन्नगव्यनुमानम् ।

३. संज्ञासंज्ञिसम्बन्धकः स्वसन्दिग्धे न्यायसम्पादितव्यक्तिः पश्चान्निश्चितवाक्यार्थमवबुध्यते इति । सादृश्यमात्रस्य गवयपदवाच्यत्वे अप्रतीतगूनामव्यवहारप्रसङ्गपर्यालोचनया निर्निमित्तप्रश्नाननुगुण्यचिन्त्यमानाप्तस्यान्यथाकथकत्वासम्भावनेन च सादृश्यस्योपलक्षलणत्वे निर्णीते तदेव वाक्यं गवयपदस्य गवयत्वनिमित्तत्वं बोधयति । गवयशब्दः गवयत्ववाचकः, असति वृत्त्यन्तरेऽभियुक्तैः

असम्बद्ध-सा हो गया है ?] । अन्यथा [प्रमाणान्तर से उपस्थित पदार्थ का विशेषणतया भी भान न मानने पर] गवय-सादृश्य को उपमिति का विषय नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि गवय प्रत्यक्षतः अधिगत हो रहा है, अतः उसका उपमिति ज्ञान में विशेषणतया भान मानना होगा । सादृश्य का प्रत्यक्ष हो जाने पर उसे विशेष्य या विशेषण बनाना वक्ता की इच्छा पर निर्भर है—चाहे वह सादृश्य को विशेष्य बनाकर 'गोः सादृश्यम्' कहे, चाहे सादृश्य को विशेषण बनाकर 'सादृश्यवती या सदृशी गौः' कहे । प्रकृत में मदीया गौरेतत्सदृशी, एतन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगित्वात्—ऐसा अनुमान हो सकता है ।

३. [संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध का बोध उपमान का फल है—ऐसा नैयायिकों का कहना है । उसका निराकरण करने के लिए वाक्यमात्र या अनुमान से उक्त बोध का सम्पादन किया जाता है—] संज्ञा (गवय शब्द) और संज्ञी (गवय अर्थ) के वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध का बोध प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'गवय' शब्द का प्रयोग सुनकर संशयालु होता है कि वृद्धों के द्वारा प्रयुक्त 'गवय' शब्द का क्या अर्थ है ? संशय दूर करने के लिए किसी अभिज्ञ से पूछता है—गवय किसे कहते है ? जानकार व्यक्ति उत्तर देता है—गोसदृशो गवयः । उस समय उस वाक्य का अर्थ पूर्णतया समझ में नहीं आता । कभी वन में जाकर गवय-पिण्ड को देखता है । गोसादृश्य का उस पिण्ड में दर्शन कर उक्त वाक्य का अर्थ तुरन्त समझा जाता है, जैसे कि कोई विद्वान् सन्दिग्ध वैदिक वाक्य का अर्थ स्वाध्याय के समय नहीं समझ पाता, किन्तु मीमांसा-न्यायों के द्वारा परिशीलन के पश्चात् वाक्यार्थ का सम्यक् बोध प्राप्त कर लेता है । गोसादृश्यमात्र को 'गवय' पद का प्रवृत्ति-निमित्त (शक्यतावच्छेदक) मानने पर गो पदार्थ के अप्रतीति काल में 'गवय' शब्द का व्यवहार न हो सकेगा, क्योंकि गो की प्रतीति न होने पर गोसादृश्य की प्रतीति नहीं होती है और उसकी प्रतीति के बिना पद-प्रयोग भी सम्भव नहीं । शक्यतावच्छेदक की सन्तुलित

प्रयुज्यमाननैमित्तिकपदत्वाद् गोत्वे गोशब्दवत्। न च विशेषणासिद्धः, वृत्यन्तराभा-वत्वस्य त्वयाऽप्यभ्युपगतत्वात्। अन्यथानुमानस्याप्रवृत्तिः, अनुग्राहकतर्काभावात्। विवादास्पदं गवयपदनिमित्तम्, विशिष्टजातित्वाद्, व्यतिरेकेण गोत्ववदिति।

—: ० :—

९-अर्थापत्तेरप्यनुमानत्वोपवर्णनम्—

१. अर्थापत्तिरप्यनुमानम्। तथा हि—सम्बन्धबोधमन्तरेणानुपपद्यमाना-र्थदर्शनेऽपि न प्रमितेरुत्पत्तिः, बुद्धे तु सम्बन्धे भवतोऽप्यनुमितिरेव। प्रमाणद्वय-विरोधोऽपि सावकाशानवकाशयोः सावकाशस्य विषयसंकोच इति व्याप्तिदर्शनवतो

अनुभूति के विना 'को गवयः'—इस प्रश्न के उत्तर में 'गोसदृशो गवयः' कहना क्योंकर प्रश्नानुगण कहा जायगा और उसका प्रयोक्ता पुरुष आप्त कैसे हो सकेगा? अतः 'गोसादृश्य' पद को गवयत्व का उपलक्षक मानना होगा, तब वह (गोसदृशो गवयः) वाक्य गवयत्व में 'गवय' पद की प्रवृत्ति-निमित्तता का बोधक होगा। शब्द प्रमाण अनुमान ही है, यहां उसका आकार यह होगा—'गवय' शब्द गवयत्व का वाचक होता है, क्योंकि गवयत्व से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता और अभियुक्त पुरुषों के द्वारा प्रयुक्त नैमित्तिक पद है, जैसे—गोत्व का वाचक 'गो' शब्द। हेतुगत विशेषण (असति वृत्यन्तरे) असिद्ध नहीं, क्योंकि सभी उपमान-वादी दार्शनिक उसकी अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं मानते। इससे भिन्न प्रकार का (गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचकः) अनुमान करने में अनुकूल तर्क का अभाव है। [गवयत्व में प्रवृत्ति-निमित्तता का अनुमान किया जाता है—] विवादास्पद (गवयत्व) गवय पद का प्रवृत्ति-निमित्त होता है, क्योंकि वह विशिष्ट जाति है, जो 'गवय' पद का प्रवृत्ति-निमित्त नहीं, होता वह विशिष्ट (गवय-पिण्डवृत्ति) जाति भी नहीं, जैसे—गोत्व।

—: ० :—

९. अर्थापत्ति का भी अनुमान में अन्तर्भाव—

१. अर्थापत्ति भी अनुमान की एक शैली ही है, क्योंकि उपपाद्य और उपपादक के सम्बन्ध का बोध न होने पर अनुपपन्न (पीनत्वादि) के दर्शन से भी उपपादक (रात्रि-भोजनादि) की कल्पना नहीं होती। किन्तु सम्बन्ध का बोध होने पर ही होती है। आप (मीमांसक) के मत में भी वह अनुमिति ही है, क्योंकि मीमांसक-मत में अनुमिति का लक्षण किया जाता है—'ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टे बुद्धिः' (शा. भा. १।१।५)। [जो लोग दो विरोधी प्रमाणों में विषय-

गेहानुपलब्धिं निरवकाशां पश्यतस्तद्विरोधिजीवनवाक्यं सावकाशं पश्यतस्तस्य वाक्यस्य बहिर्विषयत्वप्रमितिरनुमितिरेव।

२. श्रुतार्थापत्तिस्तु न शङ्कामप्यारोहति, वाक्यमन्तरेण वाक्यानुपपत्तेरभावात् न हि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इति वाक्यं 'रात्रौ भुंक्ते'—इति वाक्येन विनाऽनुपपन्नम्। शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव परिपूर्यते, न हि पचतीति पदं प्रत्यक्षादिना निराकांक्षमपि तु ओदनपदेनेति चेत्, न अस्मिन्, वाक्ये आकांक्षायोग्यतयोरभावात् क्रियाकारकयोः सम्पूर्णत्वात्। पीनत्वं भोजनेन विनाऽनुपपन्नम्, भोजनकार्यत्वादिति चेत्, न तर्ह्याकांक्षाविरहः, योग्यताविरहस्तु स्यात्। न च

व्यवस्था के द्वारा अविरोधापादन को अर्थापत्ति मानते हैं, उनके मत में निरवकाश प्रमाण के द्वारा सावकाश प्रमाण का संकोच होता है—ऐसी व्याप्ति का अभिज्ञ व्यक्ति ही घर में देवदत्त की अनुपलब्धि को निरवकाश समझ कर उसके विरोधी ज्योतिषी के (जीवति देवदत्तः) वाक्य को सावकाश बनाने के लिए देवदत्त के बाहर होने की कल्पना करता है। वह कल्पना अनुमिति का ही स्वरूप होती है।

२. श्रुतार्थापत्ति की तो शङ्का भी नहीं की जा सकती, क्योंकि एक वाक्य के बिना दूसरे वाक्य की अनुपपत्ति होती ही नहीं, जैसे 'रात्रौ भुङ्क्ते'—इस वाक्य के बिना पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'—इस वाक्य की अनुपपत्ति नहीं होती। यदि यह शंका की जाय कि शाब्दी आकाङ्क्षा की पूर्ति किसी शब्द से ही होती है, जैसे—'पचति'-इस क्रिया को सुनकर 'किम्'—इस प्रकार कर्म की आकाङ्क्षा होती है, उसकी पूर्ति प्रत्यक्षतः उपस्थित ओदन से नहीं होती, अपि तु 'ओदनम्' इस प्रकार के पद का प्रयोग करना ही पड़ता है। [इसी प्रकार 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'—यह वाक्य सुन कर 'कथं तर्हि पीनः'—इस प्रकार की आकाङ्क्षा तब तक शान्त नहीं हो सकती, जब तक 'रात्रौ भुङ्क्ते'—यह वाक्य न बोला जाय। अतः एक वाक्य दूसरे वाक्य के बिना अनुपपन्न क्यों नहीं ?] तो ऐसी शंका उचित नहीं, क्योंकि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'—इस वाक्य में आकाङ्क्षा और योग्यता का अभाव है। क्रिया-कारक-पद सब पूरे हैं, अधूरे नहीं, कि जिससे आकाङ्क्षा उठती। पीनत्व (शरीर की स्थूलता) भोजन का कार्य है, अतः भोजन के बिना नहीं बन सकता—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह तो कोई आकाङ्क्षा नहीं योग्यता का अभावमात्र है। योग्यता का अभाव भी नहीं, क्योंकि 'दिवा न भुङ्क्ते' के स्थान पर यदि यह कहा जाता कि 'कदापि न भुङ्क्ते' तब भोजन का त्रैकालिक निषेध होने पर योग्यता का अभाव कहा जाता, क्योंकि भोजन के बिना एक क्षण भी मोटापन नहीं रह सकता।

सोऽप्यस्ति त्रैकालिकभोजननिषेधे हि स स्यात्, न ह्यभुक्त्वा पीनः क्षणमपि तिष्ठति। त्रैकालिकभोजननिषेधस्तु विशिष्टकार्यात् रात्रिभोजनकारणानुमानं स्वैरं प्रवर्तताम्, न रात्रिवाक्यकल्पनावकाशः।

३. अस्तु तर्हि पचतीत्यत्रैवौदनपदकल्पना श्रुतार्थापत्तिरिति चेत्, तत्राप्यर्थस्यैव कल्पनात्। शब्दाक्षिप्तोऽपि शब्द एवेति नियमेऽतिप्रसङ्गः। अथवा तथाविधपदस्य विशिष्टसंसर्गेणैव व्याप्त्या तत्कल्पनमिति। अपि च केयमाकांक्षा नाम? जिज्ञासेति

वैसा निषेध यहां नहीं, किन्तु विशेष निषेध है—'दिवा न भुङ्क्ते'। विशिष्ट कार्य (स्थूलता) को देख कर स्वच्छन्दतः रात्रि-भोजनरूप कारण का अनुमान किया जा सकता है। फिर 'रात्रौ भुङ्क्ते'—इस वाक्य की कल्पना के लिए अवसर ही नहीं रह जाता। [मानमनोहरकार के इस खण्डलक को ज्यों-का-त्यों उठाकर प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने महान् उपकार किया है। दोनों को मिलाने से पाठ की वास्तविकता और समीचीनता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इति वाक्यैकदेशश्रवणाद् 'रात्रौ भुङ्क्ते' इति वाक्यैकदेशकल्पनात्। न चैषा प्रयुज्यते, पूर्वोक्तन्यायेनानुमानताया दुष्परिहरत्वात्। किंच नात्र वाक्यस्यानुपपत्तिः। नन्वस्त्येवानुपपत्तिः शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूरणीया। न हि पचतीति पदं प्रत्यक्षौदनेन निराकाङ्क्षमपि त्वोदनपदात्। इह पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यनेन पूरणीयेति, न; तस्य वाक्यस्य सम्पूर्णक्रियाकारकतया निराकाङ्क्षत्वेन दृष्टान्तवैषम्यात्। अथ पीनो न भुङ्क्ते इत्यभोजनेन नान्वेति, भोजनकार्यत्वात् पीनताया इति मतम्। हन्त तर्हि नेयमाकाङ्क्षा अपि तु योग्यताविरहः। न च सोऽप्यस्ति, त्रैकाल्यभोजननिषेधे हि स भवेत्। न ह्यभुक्त्वा क्षणमपि पीनस्तिष्ठतीति। न चाऽत्र तथा निषेधः, दिवा न भुङ्क्ते इति विशेषनिषेधात्। यदि तु विशिष्टकार्यदर्शनाद् रात्रिभोजनानुमानमनुमन्यामहेतराम्, तदा तु न रात्रिभोजनवाक्यकल्पनावकाशः" (चित्सु. पृ० ४३४)]।

३. यदि कहा जाय कि 'पचति' पद को सुनकर 'ओदन' पद की कल्पना ही श्रुतार्थापत्ति है, तब भी ओदनरूप अर्थ की ही कल्पना होगी 'ओदन' पद की नहीं। शब्द के द्वारा आक्षिप्त (कल्पित) शब्द ही होता है, अर्थ नहीं—ऐसा नियम करने पर अतिप्रसङ्ग होता है। अथवा 'ओदन' पद की ही कल्पना सही, किन्तु वह व्याप्तिरूप विशिष्ट सम्बन्ध के आधार पर ही होगी [जिसे अनुमिति ही कहा जायगा]। यह भी एक प्रश्न उठता है कि यह आकाङ्क्षा क्या वस्तु है? यदि जिज्ञासा को आकाङ्क्षा कहा जाय, तब यह बताया जाय कि वह (जिज्ञासा)

चेत्, सा तु कुतः ? शब्दार्थयोरपर्यवसानादिति चेत्, तर्हीष्टापत्तिरेव । न चेदं शब्द-लोपप्रसङ्गः, इष्टत्वात्, तस्य वाक्यानुमानेऽन्तर्भावोऽभ्यधायि ।

—:०:—

१०–अनुपलब्धेः प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः—

अभावः प्रत्यक्षः, प्रमेयत्वाद्, घटवत् । न चेन्द्रियार्थसम्बन्धाभावो बाधकः, असम्बद्धस्यापि प्रत्यक्षत्वे को दोषः ? अतिप्रसङ्ग इति चेत्, तत्परिहारिका दृश्यानुपलब्धिर्भविष्यति । न च तावन्मात्रस्य कारणत्वमस्तीति वाच्यम्, अन्धस्यापि शुक्लपटे पीतत्वाभावप्रतीतिप्रसङ्गात् । न हि प्रतियोगी येनैवेन्द्रियेण गृह्यते,

---

किस से उत्पन्न होती है ? यदि शब्दार्थ की अपर्यवसानतता (अपूर्णता) से उत्पन्न होती है, तब हमें इष्टापत्ति है । यदि कहा जाय कि इस प्रकार तो शब्द प्रमाण का विलोप ही हो जायगा यह भी हम वैशेषिकों को अत्यन्त अभीष्ट है, क्योंकि शब्द प्रमाण का हम अनुमान में अन्तर्भाव मानते हैं ।

—:०:—

१०–अनुपलब्धि का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव—

[अभाव की प्रत्यक्षता सिद्ध की जाती है—] अभाव प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है, क्योंकि प्रमेय है, जैसे—घट । अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से उसका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि असम्बद्ध वस्तु का प्रत्यक्ष मानने में क्या दोष ? यदि कहा जाय कि बिना सम्बन्ध के प्रत्यक्ष मानने पर विद्यमान घटादि के समान अविद्यमान घटादि का भी प्रत्यक्ष प्रसक्त होगा । तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्यमान पदार्थों का अनुपलब्धि से असत्व निश्चित हो जाता है, तब प्रत्यक्ष से उनकी सत्ता निश्चित नहीं की जा सकती । यदि कहा जाय कि अभाव के अधिकरण (भूतल) के ग्रहण में ही इन्द्रियों को कारण माना जाता है, अभाव के ग्रहण में इन्द्रिय की कोई आवश्यकता नहीं । तब तो अन्धे व्यक्ति को भी नील घट में पीतरूप के अभाव का ज्ञान होने लगेगा । अतः अभाव के ज्ञान में इन्द्रिय को कारण मानना ही चाहिए । प्रतियोगी के ग्राहक इन्द्रिय से ही उसका अभाव गृहीत होता है, अतः रूपाभाव का ज्ञान भी चक्षुष्मान् पुरुष को ही हो सकेगा, अन्ध को नहीं । यदि कहा जाय कि प्रतियोगी-ग्राहक इन्द्रिय से ही अभाव के अधिकरण का ग्रहण होता है, जो कि अभाव-ज्ञान में अपेक्षित है । अन्ध व्यक्ति को त्वगिन्द्रिय से घट का ज्ञान हो रहा है, चक्षु से नहीं, अतः उसे पीतरूपाभाव का ज्ञान

तेनैवाश्रयो ग्रहीतव्यः व्योम्नि स्पर्शाभावाग्रहणप्रसङ्गात्। स्मर्यमाणेऽपि देवकुले देवदत्ताभावसंविदोऽभ्युपगमात्। विस्तरस्तु न्यायलक्ष्मीविलासे इत्युपरम्यते।

—:०:—

१३,१४-सुखदुःखयोर्निरूपणम्—

प्रत्यक्षेण सुखमुपलभ्यते, अहं सुखीति व्यवहारदर्शनात्। न च दुःखाभाव एव सुखम्, सत्यपि दुःखे तद्व्यवहारदर्शनात्- सन्तापवतः शीतह्रदे निमग्नार्धकायस्य सुख्यहमिति मतेः। कतिपयदुःखाभावश्च नारकीयस्याप्यस्ति। न च तन्नित्यम्, कारणविशेषोपादानवैयर्थ्यं स्यात्। ज्ञायमानं निरुपाधिकृतिव्याप्यं सुखम्। एवं दुःखमिति वक्तव्यम्—निरुपाधिकहेयं दुःखम्।

—:०:—

नहीं हो सकता। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैसा नियम मानने पर आकाश में स्पर्शाभाव का ज्ञान नहीं हो सकेगा, त्वगिन्द्रिय से आकाश का ग्रहण सम्भव नहीं। स्मर्यमाण देव-मन्दिररूप अधिकरण में भी देवदत्तादि का अभाव माना जाता है, किन्तु देवदत्तरूप प्रतियोगी के ग्राहक चक्षुरादि से असन्निहित देवकुल का ग्रहण नहीं हो सकता। इसका अधिक विस्तार न्यायलक्ष्मीविलास में किया गया है, अतः यहाँ विशेष विस्तार नहीं किया जाता। [सम्भवतः वादिवागीश्वराचार्य की ही कोई 'न्यायलक्ष्मीविलास' नाम की कृति है। रुचिदत्त ने जो कहा है —"अत एव विलासे तथैव पाठः" । किरणा० पृ० ३६४)। वहाँ विद्वानों का कहना है कि वादीन्द्र-द्वारा विरचित कुसुमाञ्जलिविलास की ओर रूचिदत्त का इशारा है।

—:०:—

१३,१४-सुख और दुःख का निरूपण—

प्रत्यक्ष प्रमाण से सुख-दुःख की उपलब्धि होती है, क्योंकि 'अहं सुखी' इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। दुःख का अभावमात्र सुख है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दुःख रहने पर भी सुख की प्रतीति होती है—घर्मार्त्त प्राणी गङ्गा के शीतल जल में गले तक घुस कर अनुभव करता है कि शिर जल रहा है, किन्तु धड़ शीतल सुख सम्पन्न हो रहा है। नारकीय प्राणी में भी कतिपय दुःखों का अभाव रहने पर भी सुख का भान नहीं होता। सुख को नित्य नहीं मान सकते, क्योंकि सुखोत्पत्ति के लिए सामग्री जुटाते हैं और उससे सुख-सम्पादन करते हैं। ज्ञायमान होकर जो अनौपाधिक कृति (उपार्जन-प्रयत्न) का विषय होता है, उसे सुख कहते हैं। सुख के विपरीत दुःख का स्वरूप

१५-१७-इच्छाद्वेषप्रयत्नानां निरूणम्—

कर्म प्रयत्नसाधनगुणजन्यम् कर्मत्वाद्, व्यतिरेकेण घटवत्। कर्मकारणमपि विप्रतिपन्नो गुणो ज्ञानजन्यः; कर्मकारणगुणत्वात्। तत्तत्कारणस्य सुखदुःखज्ञानस्य वैजात्यात् कार्यस्य वैजात्यमिति इच्छाद्वेषप्रयत्नसिद्धिः। तत्रेच्छाप्रयत्नावपि नित्यावनित्यौ च बुद्धिवत्। कर्मकारणगुणनिमित्तसुखज्ञानजन्येन गुणत्वावान्तरजातीयेच्छा। कर्मकारणगुणनिमित्तदुःखज्ञानजन्येन गुणत्वावान्तरजातीयो द्वेषः। अस्मदादिप्रत्यक्षचेष्टानिमित्तेन गुणत्वावान्तरजातीयः प्रयत्नः।

—:०:—

शमझ लेना चाहिए—ज्ञायमान होकर जो परित्याग-प्रयत्न का विषय हो, उसे दुःख कहा जाता है।

—:०:—

१५,१७-इच्छा, द्वेष और प्रयत्न का निरूपण—

कर्म (यागादि क्रिया) प्रयत्न के साधनभूत गुण (इच्छा या द्वेष) से जन्य होता है, क्योंकि कर्म है, जो प्रयत्न के साधनीभूत गुणों से जन्य नहीं होता, वह कर्म भी नहीं होता, जैसे—घट। कर्म (क्रिया) का कारणीभूत विवादास्पद गुण (इच्छा या द्वेष) सुख-दुःख-ज्ञान से जन्य होता है, क्योंकि कर्म का कारण गुण है। इच्छा का जनक सुख-ज्ञान और द्वेष का जनक दुःख-ज्ञान परस्पर विलक्षण होते हैं, अतः उनसे जन्य इच्छा और द्वेष भी परस्पर विजातीय होते हैं। [आशय यह है कि महर्षि कणाद का सूत्र है—"इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः" (क. सू. ६।२।१४) अर्थात् इच्छा के द्वारा धर्म के जनक विहित कर्मों में एवं द्वेष के द्वारा अधर्म-जनक निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्ति होती है। इष्ट साधनता के ज्ञान से इच्छा और अनिष्ट-साधनता के ज्ञान से द्वेष उत्पन्न होता है। उक्त सूत्रार्थ को ध्यान में रखते हुए मानमनोहरकार ने एक ही अनुमान-प्रयोग के द्वारा प्रयत्न-जनक गुण के रूप में इच्छा और द्वेष की सिद्धि की है। उपादान-प्रयत्न की जनक इच्छा तथा हान-प्रयत्न का जनक द्वेष होता है। उपादान-प्रयत्न सुख ज्ञान से, हान-प्रयत्न दुःख ज्ञान से उत्पन्न होता है। इस प्रकार सुख-दुःख का वैलक्षण्य परम्परया जिन कार्यभूत गुणों में संक्रान्त होता है, उन्हें इच्छा और द्वेष कहा जाता है]। इच्छा और प्रयत्न भी ज्ञान के समान दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य। नित्य ईश्वर के और अनित्य जीव के होते हैं। इस प्रकार विहित कर्म के प्रवर्तक गुण (इच्छा) के जनक सुख ज्ञान से जनित गुण में रहने वाली गुणत्व-व्याप्य जाति (इच्छात्व) से युक्त गुण को इच्छा और निषिद्ध कर्म में प्रवर्तक गुण (द्वेष) के जनक दुःख-

१८-२०–गुरुत्वद्रवत्वस्नेहानां निरूपणम्—

१. गुरुत्वम् –

विवादपदमसमवायिकारणजन्यम्, कर्मत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत् विप्रतिपन्नमसमदाद्यप्रत्यक्षम्, गुरुत्वाद्, व्यतिरेकेण घटवत्। आद्यपतनासमवायिकारणेन गुणत्वावान्तरजातीयं गुरुत्वम् :

२. द्रवत्वम्—

स्यन्दनमसमवायिकारणजन्यम्, कार्यत्वाद्, घटवदिति द्रवत्वसिद्धिः। प्रत्यक्षेण च। आद्यस्यन्दनासमवायिकारणेन गुणत्वावान्तरजातीयं द्रवत्वम्। तैजसाः

ज्ञान-जनित गुण में रहनेवाली गुणत्व-व्याप्य (द्वेषत्व) जाति से युक्त गुण को द्वेष तथा हम लोगों के प्रत्यक्षभूत शारीरक कर्म (क्रिया) के जनक गुण में वर्तमान गुणत्वव्याप्य (प्रयत्नत्व) जातिवाले गुण को प्रयत्न कहा जाता है।

—:०:—

१८-२०–गुरुत्व, द्रवत्व और स्नेह का निरूपण—

१. गुरुत्व—

विवादास्पद (आद्य पतनरूप कर्म) असमवायिकारण (गुरुत्व) से जन्य होता है, क्योंकि कर्म है, जैसे उभय-सम्मत कर्म [श्रीसर्वदेव सूरि ने भी ऐसा ही कहा है—"प्रथमं पतनम् असमवायिकारणपूर्वकम्, क्रियात्वात्, सम्प्रतिपन्नवत्। परिशेषाद् गुरुत्वसिद्धिः" (प्र.मं.पृ.११)। गुरुत्व की अप्रत्यक्षता सिद्ध की जाती है -] विवादास्पद (गुरुत्व) हमें (साधरण जीवों को) प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि गुरुत्व है, जो प्रत्यक्ष होता है वह गुरुत्व नहीं होता, जैसे—घट। आद्य पतन के असमवायिकारण गुण में वर्तमान गुणत्व-व्याप्य (गुरुत्वत्व) जाति के आश्रय को गुरुत्व कहते हैं।

२. द्रवत्व—

प्रथम स्यन्दन (जलादि की प्रसरण क्रिया) अपने असवायिकारण से जन्य होता है, क्योंकि जन्य है, जैसे घट—इस अनुमान से द्रवत्व गुण की सिद्धि होती है और प्रत्यक्ष से भी। प्रथम स्यन्दन के असमवायिकारण में रहनेवाली गुणत्व-व्याप्य जाति के आधार को द्रवत्व कहते हैं। सुवर्ण-पिण्ड के समवायिकारण तैजस परमाणु, द्रवत्वके

परमाणवो द्रवत्वाधाराः, रूपिपरमाणुत्वात् पार्थिवपरमाणुवत्। न च गुरुत्वरसवत्वे उपाधी, घटे साध्याभावात्। न च परमाणुत्वविशिष्टमेतद् उपाधिः, घृतादौ साध्यसिद्धत्वेऽप्यभावात् साध्याव्यापकत्वम्।

३. स्नेहः—

उदकम्, गुणत्वावान्तरजात्या स्वाश्रयव्यावर्त्तकगुणाश्रयः, रसवत्वात्, पृथिवीवत्। न च पृथिवीत्वमुपाधिः, सपक्षाव्यापकत्वात्। तदेवं स्थिते प्रत्यक्षेणापि स्नेहः सिद्धः। चक्षुःस्पर्शनग्राह्यत्वे सति गुणत्वावान्तरजात्या स्वाश्रयव्यावर्तकः स्नेहः।

—:०:—

आधार होते हैं, क्योंकि रूपी परमाणु हैं, जैसे—घृतादिगत पार्थिव परमाणु। इस अनुमान में गुरुत्व या रसवत्त्व धर्म को उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि घट में द्रवत्वरूप साध्य के न रहने पर भी गुरुत्व रहता है, अतः साध्य का समव्याप्त नहीं। परमाणुत्व-विशिष्ट गुरुत्व को भी उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि द्रुत घृतादि में द्रवत्वरूप साध्य के रहने पर भी उक्त उपाधि नहीं, अतः साध्य की व्यापकता ही उसमें नहीं बनती।

३. स्नेह—

उदक, गुणत्व-व्याप्य जाति से युक्त स्वाश्रय-व्यावतर्क गुण का आश्रय होता है, क्योंकि रसवाला है, जैसे - पृथिवी। पृथिवी में वैसा गुण गन्ध है, जो कि गुणत्व-व्याप्य गन्ध जाति का आधार भी है और अपने आश्रयीभूत पृथिवी का विशेष गुण होने के कारण जलादि से व्यावर्तक भी है। किन्तु जल में वैसा गुण स्नेह मानना होगा, जो गुणत्व-व्याप्य स्नेहत्व जाति का आधार तथा अपने आश्रय जल का विशेष गुण होने से व्यावतर्क भी है। यहाँ पृथिवीत्व धर्म को उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि गुणत्व-व्याप्य शब्दत्व जाति का आधार शब्द गुण भी अपने आश्रय का व्यावर्तक है, अतः आकाशादि भी सपक्ष हैं, वहाँ पृथिवीत्व न रहने के कारण साध्य का व्यापक नहीं है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से प्रसाधित स्नेह गुण प्रत्यक्ष से भी सिद्ध होता है। चक्षु और त्वगिन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य, गुणत्व-व्याप्य, स्वाश्रय-व्यावर्तक गुण को स्नेह कहते हैं।

—:०:—

२१-संस्कारस्य निरूपणम्—

१. वेगः—

विमतिपदमद्विष्ठकर्मासमवायिकारणाश्रयः परमाणुत्वात्, पार्थिवपरमाणुवत्। न च रूपित्वमुपाधिः, आलोके व्यभिचारात्। न च रूप्यणुत्वं प्रयोजकम्, साध्याव्यापकत्वात्। प्रतिबद्धद्रवत्वस्य तैजसद्व्यणुकस्याप्युत्पत्तिसम्भवात्, तन्निवृत्यर्थं परमाणुत्वे सतीति विशेषणे वैयर्थ्यम्। स च वेगः प्रत्यक्षे द्रव्ये प्रत्यक्षेणैव गृह्यते, वेगेन गच्छतीति प्रतीतेः।

२१-संस्कार का निरूपण--

१. वेग—

विवादास्पद (वायवीय परमाणु) क्रिया के असमवायिकारणात्मक अद्विष्ठ गुण का आधार होता है, क्योंकि परमाणु है, जैसे पार्थिव परमाणु। [घृतादि द्रव्य के परमाणुओं में स्यन्दनरूप क्रिया का असमवायिकारण अद्विष्ठ गुण द्रवत्व जैसे रहता है, वैसे ही वायु के परमाणु में वैसा गुण वेग रह सकता है। महर्षि कणाद ने कहा है—'नोदनादाद्यमिषोः कर्म, तत्कर्मकारिता च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरम्' (क. सू. ५।१।१७) अर्थात् प्रत्यञ्चा के आघात (नोदन संयोग) से बाण में प्रथम क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया से वेग और वेग से उत्तरोत्तर क्रिया उत्पन्न होती है। इस क्रिया का समवायिकरण बाण और असमवायिकारण वेग होता है। वेग की उत्पादक क्रिया का असमवायिकारण नोदनाख्य संयोग द्विष्ठ होता है, उसकी व्यावृत्ति के लिए यहाँ अद्विष्ठ विशेषण दिया है। सर्वदेव सूरि ने इसके लिए एकद्रव्य शब्द का प्रयोग किया है—'वेगत्वं क्रियासमवायिकारणैकद्रव्यसमानाधिकरणं स्पर्शवज्जातित्वात् सत्तावदिति वेगसिद्धिः' (प्र. म. पृ. १२)]। उक्त अनुमान में रूपित्व धर्म को उपाधि नहीं सकते, क्योंकि आलोक में रूपित्व रहने पर भी साध्य नहीं रहता, अतः साध्य-समव्याप्त नहीं है। रूपवदणुत्व को भी साध्य का प्रयोजक या उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि कथित साध्य के आश्रय बाणादि भी हैं, वहां रूपवदणुत्व धर्म नहीं रहता, अतः साध्य का व्यापक ही नहीं है। स्यन्दन क्रिया का असमवायिकारण अद्विष्ट द्रवत्व गुण जिसमें प्रतिबद्ध है, ऐसे तैजस द्व्यणुक में भी रूपवदणुत्व है, साध्य नहीं, उसकी व्यावृत्ति के लिए 'परमाणुत्वे सति रूपवत्त्व' को उपाधि मानने पर व्यर्थविशेषणता है। वह वेग प्रत्यक्ष द्रव्य में प्रत्यक्ष से ही गृहीत होता है, क्योंकि वेगेन गच्छति—यह प्रत्यक्ष प्रतीति होती है।

२. स्थितिस्थापकः—

विवादाध्यासिताः परमाणवः [कर्मासमवायिकारणाद्विष्ठगुणा] धाराः, स्पर्शवत्त्वाद् अश्रोत्रानित्यविशेषगुणवत्त्वाद्, इषुवदात्मवच्च। अन्यथाकृष्टमुक्तानां शाखादीनां पुनर्मण्डलीभावो न स्यात्। विवादाध्यासितो वेगातिरिक्तसंस्काराश्रयः, अश्रोत्रानित्यविशेषगुणवत्त्वाद्, आत्मवदिति स्थितिस्थापकसिद्धिः। उन्नमनकर्मासमवायिकारणाद्विष्ठगुणावान्तरजातीयः संस्कारः स्थितिस्थापकः।

३–भावना—

स्मृत्यन्यथानुपपत्त्या भावनासिद्धिः। पूर्वानुभवस्य चिरातीतत्वात्। स्वोत्पादकानित्यज्ञानसमानविषयज्ञानजनकेन गुणावान्तरजातीया भावना।

—:०:—

२. स्थितिस्थापक—

विवादास्पद (परमाणु) स्वगत क्रिया के असमवायिकारणात्मक अद्विष्ठ गुण के आश्रय होते हैं, क्योंकि स्पर्शवाले हैं, जैसे—वाण। अथवा विवादास्पद परमाणु, क्रिया के असमवायिकारणरूप अद्विष्ठ गुण के आधार होते हैं क्योंकि अश्रावण अनित्य विशेष गुणों के आधार हैं, जैसे—आत्मा। जीवात्मा में ज्ञानादि ऐसे विशेष गुण हैं, जो श्रोत्र-ग्राह्य नहीं और अनित्य हैं। स्पर्शवद्द्रव्यों के परमाणुओं में वैसा गुण स्थिति-स्थापक मानना होगा। स्थिति-स्थापक के बिना खींचकर छोड़ी हुई शाखादि की अपनी पूर्व अवस्था में स्वतः स्थिति नहीं हो सकती। विवादास्पद (शाखादि) वेग से भिन्न संस्कार के आश्रय होते हैं, क्योंकि अश्रावण अनित्य विशेष गुणों के आधार हैं, जैसे आत्मा--इस अनुमान से स्थिति-स्थापक की सिद्धि होती है। उन्नमन (ऊर्ध्वगमन) क्रिया के असमवायिकारणभूत अद्विष्ठ गुण में रहनेवाली गुणत्व-व्याप्य (स्थितिस्थापकत्व) जाति के आधार गुण को स्थिति-स्थापक कहते हैं।

३. भावना—

भावनात्मक संस्कारों के बिना स्मृति की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः भावना की सिद्धि हो जाती है। पूर्वानुभव चिरातीत हो जाने के कारण स्मृति का उत्पादन नहीं कर सकता। स्वोत्पादक अनित्य ज्ञान के समानविषयक ज्ञान (स्मृति) के जनक गुण में वर्तमान गुणत्व-व्याप्य जाति (भावनात्व) के आश्रय को भावना कहा जाता है।

—:०:—

२२.२३–धर्माधर्मयोर्निरूपणम्—

१. धर्म:—

१. याग: स्वर्गोत्पादनसमर्थावातरव्यापारक:, अन्यथा यागस्वर्गयो: साध्यसाधनभावस्य प्रतीतस्यानिर्वाहात्। प्रतीयते च कामनाविषयत्वेन साध्यत्वं स्वर्गस्य, विधिवलाद् यागस्य साधनत्वेनानुष्ठेयत्वम्। न च वाच्यं साध्यसाधनभाव: क्षणिकस्य यागस्य कालान्तरभाविनि स्वर्गे विनावान्तरव्यापारं उपपद्यते इति मध्येऽपूर्वसिद्धि:।

२. अपरे च यागस्वर्गयो: साध्यसाधनभावो नापूर्ववाक्यात् प्रतीयते, योग्यताविरहात्। अतो लिङ्वापूर्वमभिधत्ते, व्युत्पत्तिस्तु लोकवेदाभ्याम्। लोकेऽपि

२२-२३–धर्म और अधर्म का निरूपण—

१. धर्म—

१. यागादि कर्म स्वर्गोत्पादन-समर्थ अवान्तर व्यापार (अपूर्व या अदृष्ट) से युक्त होते हैं, अन्यथा 'स्वर्गकामो यजेत' (आप. श्रौ. सू. ३।१४।८) वाक्य से प्रतीयमान स्वर्ग और याग के साध्य-साधनभाव का निर्वाह नहीं होगा। किन्तु उक्त विधि-वाक्य के बल पर स्वर्ग में कामना-विषयत्व प्रतीत होने के कारण साध्यता और याग में साधनता प्रतिपादित होने के कारण अनुष्ठेयता मानी जाती है। यह नहीं कहा जा सकता कि साक्षात् याग और स्वर्ग का साध्य-साधनभाव अवान्तर व्यापार के विना ही उपपन्न हो जाता है, क्योंकि यागादि कर्म क्षणभङ्गुर होते हैं, कालान्तर-भावी स्वर्गादि की उत्पत्ति-पर्यन्त उनका स्थिर रहना सम्भव नहीं है। अतः मध्य में अपूर्व (अदृष्ट या धर्म) की सिद्धि अनिवार्य हो जाती है।

२. अन्य (प्राभाकर) मीमांसकों का कहना है कि याग और स्वर्ग का साध्य-साधनभाव 'स्वर्गकामो यजेत्'—इस अपूर्व विधि से प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वैसी उसमें योग्यता ही नहीं। अतः लिङ् प्रत्यय ही अपूर्व का वाचक होता है। वाच्य-वाचकभाव का ज्ञान लौकिक व्यवहार से होता है। व्यावहारिक पुरुषों के द्वारा क्रियारूप कार्यार्थ में लिङादि का प्रयोग देखा जाता है, अतः वैदिक लिङ् प्रत्यय वैदिक कार्य (नियोग या अपूर्व) का अभिधान करता है। [आशय यह है कि अपूर्व के विषय में दो मीमांसक-मत प्रचलित हैं—कल्प्यापूर्ववाद और अभिहितापूर्ववाद। पहला मत कुमारिल भट्ट का और दूसरा प्रभाकर मिश्र का है। शबरस्वामी ने कहा है—अपूर्वं पुनरस्ति, यत आरम्भः शिष्यते—स्वर्गकामो यजेतेति' (शा. भा. पृ. ३९०)। इसकी व्याख्या में कुमारिल भट्ट ने कहा है—

क्रियाकार्ये लिङ्प्रयोगदर्शनादिति ब्रुवते। तत्रान्यथाख्यातिपक्षे योग्यतामन्त-रेणापि प्रतिपत्तेरभ्युपगमात्। कामाधिकारेषु फलं प्रति कारणस्यैव सतस्तस्य नियोगं प्रति विषयत्वाभ्युपगमात्। अन्यथा नित्यकाम्यवैषम्यविगमः स्यात्। विहितभावार्थजात्यास्मदाद्यतीन्द्रियात्मगुणो धर्मः।

२. अधर्मः—

"यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन यातयात्" (तै. सं. २।६।१०।२) इति

फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने।
तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येवमपूर्वं प्रति गम्यते॥ (तं. वा. पृ. ३९०)

वह कल्पित अपूर्व याग की शक्ति है और वह कहीं भी रह सकती है, प्रधानापूर्व आत्मा में ही रहता है—

आत्मैव चाश्रयस्तस्य क्रियाप्यत्रैव च स्थिता।
आत्मवादे स्थितं ह्येतत्कर्तृत्वं सर्वकर्मसु॥ (तं. वा. पृ. ३९७)

भट्टपाद के इस मत की आलोचना करते हुए शालिकनाथ मिश्र ने कहा है—'शक्तिमति चातीते शक्तिरप्यतीतेति प्रमाणान्तरसिद्धम् ··· आत्माश्रितेति चेत्, नान्यदीया शक्तिरन्यत्र वर्तते, प्रमाणान्तर-विरोधादेव ··· तद्धि तदनुपपत्त्या कल्प्यते यद् यस्योपपादकम्। न च क्रियाजन्येनान्येन फलजनकेन कल्पितेन क्रियातः फलसाधनतोपपादिता भवति, न हि साधनसाधनं तस्य साधनं भवति। अवान्तरव्यापारो वा शक्तिर्वा तत्साधनतां निर्वाहयति। व्यापारयोगितैव शक्तिमतां साधनता यतः। न चात्मसमवाय्यर्थान्तरं कर्मणामवान्तरव्यापारः, नापि शक्तिरिति न तस्या अर्थापत्तिगम्यता युक्ता। किन्त्वन्विताभिधाने स्थिते नियोज्यानुगुण्याच्छब्दवाच्यतैवोचितेति सूक्तम्—'नियोज्य-सम्बन्धसमर्थं कालान्तरस्थायिकार्यं क्रियातिरिक्तं लिङादिभिरेवोच्यते' (प्र. पं. पृ. ४३६–४४)]। प्राभाकर की इस आलोचना का प्रत्यालोचन करते हुए मानमनोहरकार कहता है—भाट्टगण अन्यथाख्याति-वादी हैं। अन्यथाख्याति-पक्ष में योग्यता के विना भी प्रतिपत्ति मानी जाती है। प्राभाकरगण काम्य कर्मों में फल (स्वर्ग) के प्रति साधनभूत याग को नियोग का विषय मानते हैं। नहीं तो नित्य और काम्य कर्मों में कुछ वैषम्य ही न रहेगा। विहित भावार्थ (यागादिरूप धात्वर्थ) से जनित, हम लोगों के अतीन्द्रिय, आत्मा के गुण को धर्म कहते हैं।

२. अधर्म—

'यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन यातयात्' (जो ब्राह्मण का अपमान करे, उसे नरक में सैकड़ों यातनाएं झेलनी होंगी) इस वाक्य के द्वारा

शतयातनायाः साध्यत्वावगमात् । अवगूरणस्य चिरातीतत्वे तत्साधनत्वं साक्षादनुपपन्नमित्यन्तराऽपूर्वेण भवितव्यम् । अधर्मत्वयोगादधर्मः ।

—:०:—

२४–शब्दस्य निरूपणम्—

१. शब्दो गुणः, बाह्येन्द्रियाणां मध्ये अवयव्यग्राहकेणैव गृह्यमाणाया जातेरधिकरणत्वाद्, गन्धवत् । यदि शब्दो द्रव्यं स्यात्, केनचिद्विशेषगुणेन भवितव्यम्, अन्यथा प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः, विशेषगुणप्रत्यक्षतानिबन्धनत्वाद् द्रव्यप्रत्यक्षतायाः ।

२. शब्दो द्रव्यं साक्षादिन्द्रियसम्बन्धेन गृह्यमाणत्वाद्, घटवदिति चेत्, न; व्यर्थविशेषणत्वात् । न हि भेदाभेदवादिनां रूपादिभिर्द्रव्यैर्व्यवहितः सम्बन्धोऽस्ति । अथ स्वसम्बद्धेन्द्रियेण गृह्यमाणत्वादिति, तथापि वैयर्थ्यमिन्द्रियपदस्य, स्वपदस्य

अवगूरण (तिरस्कार कर्म) में नरक की साधनता प्रतीत होती है । अवगूरण क्रिया भी क्षणिक होने से कालान्तरभावी नरक-यातनाकी साक्षात् साधन नहीं हो सकती, अतः यहां भी मध्य में अधर्मरूप अपूर्व की उत्पत्ति माननी होगी । अधर्मत्व जाति के आधार गुण को अधर्म कहा जाता है ।

—:०:—

२४–शब्द का निरूपण—

१. शब्द गुण होता है, क्योंकि बाह्य इन्द्रियों के मध्य घटादि अवयवी द्रव्य की अग्राहक इन्द्रिय के द्वारा ही गृहीत जाति का आधार है, जैसे—गन्ध [अवयवी द्रव्य की अग्राहक घ्राण इन्द्रिय के द्वारा गृह्यमाण गन्धत्व जाति का आधार गन्ध जैसे गुण होता है, वैसे ही अवयवी की अग्राहक श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा गृह्यमाण शब्दत्व जाति के आधार शब्द को भी गुण मानना होगा ।] यदि शब्द को द्रव्य माना जाता है, तब उसमें कोई-न-कोई विशेष गुण मानना होगा, नहीं तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि विशेष गुणों की प्रत्यक्षता ही द्रव्य-प्रत्यक्षता की नियामक होती है ।

२. मीमांसकगण अनुमान के द्वारा शब्द को द्रव्य सिद्ध करते हैं—शब्द द्रव्य होता है, क्योंकि इन्द्रिय के साक्षात् सम्बन्ध से गृहीत है, जैसे—घट । आशय यह है कि जैसे घट का चक्षु के साक्षात् सम्बन्ध संयोग से ग्रहण होता है, वैसे ही शब्द का भी श्रोत्र के साक्षात् सम्बन्ध समवाय से ग्रहण होता है, अतः शब्द भी घट के समान द्रव्य है । मीमांसकों का यह अनुमान समीचीन नहीं, क्योंकि हेतु-घटक 'साक्षात्' विशेषण व्यर्थ है । भाव यह है कि भाट्टगण द्रव्य और गुण का जाति

ग्राह्यपदस्य न व्यावर्तनमस्ति, अद्रव्यस्य भवतां नये सम्बन्धानभ्युपगमात्, संयोग-सम्बन्धयोः पर्यायत्वात्। अन्यत्रोपचरितत्वात्। अन्यथा योग्यतासम्बन्धलक्षणेन रूपस्यापि साक्षात्सम्बन्धेनावेद्यत्वेन व्यभिचारः। सम्बन्धित्वादिति प्रतिवाद्यनैकान्तिकम्।

३. शब्दो गुणो न भवति, श्रावणत्वात्, शब्दत्ववदिति चेत्, न; अद्रव्यत्वेन ह्यस्य समानत्वात्। अनैकान्तिकश्च शब्दगतसंख्यायां भवतः।

४. शब्दो गुण आत्मव्यतिरिक्तत्वे सति इन्द्रियाणां मध्ये नित्येनैवाध्यक्षीकृताया जातेरधिकरणत्वात्, सुखवत्। अनित्यः शब्दः, इन्द्रियविशेषगुणत्वात्, चक्षुर्गत-रूपवत्। न चाकाश एव वर्तमानत्वात्, तन्महत्त्ववदिति सत्प्रतिपक्षत्वम्, आकाश-

---

तथा व्यक्ति के समान ही भेदाभेद स्वीकार करते हैं, जैसा कि पार्थसारथि मिश्र ने कहा है—"तस्मात् प्रमाणबलेन भिन्नाभिन्नत्वमेव युक्तम्" (शा. दी. पृ. १००)। गुण का द्रव्य से अभेद होने के कारण सभी गुणों के साथ इन्द्रियों का साक्षात् सम्बन्ध ही होता है, परम्परा सम्बन्ध नहीं, अतः 'साक्षात्' पद व्यर्थ है। उक्त अनुमान में 'स्वसम्बद्धे-न्द्रियेण गृह्यमाणत्वात्'—ऐसे हेतु का प्रयोग करने पर भी व्यर्थविशेष-णता दोष है, क्योंकि हेतु-घटक 'इन्द्रिय' पद 'स्व' पद और 'ग्राह्य' पद का कोई व्यावर्त्य नहीं है। भाट्ट मत में अद्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं माना जाता, संयोग और सम्बन्ध पद पर्याय माने जाते हैं एवं अन्यत्र (योग्यतादि सम्बन्धों में) 'सम्बन्ध' पद का गौण प्रयोग होता है। अन्यथा योग्यतारूप साक्षात् सम्बन्ध के द्वारा रूपादि भी गृहीत होते हैं, किन्तु उनमें द्रव्यत्व न रहने से व्यभिचार होता है। 'सम्बन्धत्वात्' यह हेतु प्रतिवादी (वैशेषिक) के मत से रूपादि में व्यभिचरित है, क्योंकि रूपादि परम्परा सम्बन्ध से सम्बन्धी होने पर भी द्रव्य नहीं माने जाते।

३. 'शब्द गुण नहीं होता, क्योंकि श्रावण है, जैसे शब्दत्व'—इस प्रकार के अनुमान-प्रयोग से तो अद्रव्यत्व की भी सिद्धि हो सकती है—'शब्द द्रव्य नहीं होता, क्योंकि श्रावण है, जैसे-शब्दत्व।' श्रावणत्व हेतु अनैकान्तिक भी है, क्योंकि मीमांसक-मत में शब्दगत संख्या में द्रव्यत्व न होने पर भी श्रावणत्व माना जाता है।

४. शब्द गुण होता है, क्योंकि आत्मा से भिन्न है तथा इन्द्रियों के मध्य में श्रोत्ररूप नित्य इन्द्रिय के ही द्वारा प्रत्यक्षीकृत जाति का आधार है, जैसे सुख। शब्द अनित्य होता है, क्योंकि इन्द्रिय का विशेष गुण है, जैसे चक्षु इन्द्रिय का रूप [प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने इस अनुमान को उद्धृत करते हुए कहा है—यदाह मानमनोरकारः—

भागविनष्टघट इव स्वसंयोगे व्यभिचारात्। अनित्यः शब्दः अरसत्वे सत्यवय-व्यग्राहकेणैव गृह्यमाणजातेरधिकरणत्वाद्, गन्धवदिति भाट्टं प्रति। यच्च नित्यः शब्द, आत्मविशेषगुणान्यत्वे सति इन्द्रियाणां मध्ये नित्येनैव गृह्यमाणत्वादिति, [तद्] दुःखाभावेऽनैकान्तिकम्। सामान्यवत्त्वे सतीति विशेषणेऽपि तथा, परमते तत्रापि जातेरभ्युपगमात्। यदाह—

यद्वानुवृत्तिव्यावृत्तिबुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम्।
तस्माद् गवादिवद्वस्तु प्रमेयत्वाच्च गम्यताम्॥

(श्लो. वा. अभाव.९) इति

प्रतिवाद्यनैकान्तिकं च, आकाशवायुसंयोगस्यापि योग्यन्तःकरणग्राह्यस्य तथाभावात्। अस्मदादीति विशेषणे वैयर्थ्यात्। नादेश्च व्यभिचारात्। एवं व्यवस्थिते प्रत्यक्षेणापि साध्यते—'नष्टः शब्द' इति प्रतीतेः। आकाशविशेषगुणः

अनित्यः शब्दः, इन्द्रियविशेषगुणत्वात्, चक्षूरूपवत्। तत्रापि हि समानं ध्वन्यंशे सिद्धसाधनत्वम्' (चित्सु. पृ. २७९)। श्री माधवाचार्य ने भी कहा है "इदमपास्तं यदवादि वादिवागीश्वरेण मानमनोहरे - अनित्यः शब्दः इन्द्रिमग्राह्यविशेषगुणत्वाचक्षूरूपवदिति, शब्दद्रव्यत्वादिनं प्रत्यसिद्धेः, ध्वन्यशे सिद्धसाधनाच्च" (सर्वद. पृ. २७८)]। यहाँ शब्द नित्य होता है, क्योंकि आकाशमात्र में वृत्ति है, जैसे उसका महत्त्व'—इस प्रकार का सत्प्रतिपक्ष-प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि आकाशगत विशेष संयोग में व्यभिचार है। शब्द अनित्य होता है, क्योंकि इससे भिन्न है तथा अवयवी की अग्राहक इन्द्रिय से गृह्यमाण जाति का आधार है, जैसे गन्ध—यह अनुमान-प्रयोग भाट्टगणों के प्रति करना चाहिए। यह जो शब्द नित्य होता है, क्योंकि आत्मा के विशेष गुणों से भिन्न है तथा इन्द्रियों के मध्य में नित्य इन्द्रियमात्र से गृह्यमाण है—अनुमान किया जाता है, वह दुःख के प्रागभाव में व्यभिचरित है। सामान्यवत्त्वे सति—ऐसा विशेषण लगाने पर भी वहाँ ही व्यभिचार है, क्योंकि मीमांसकगण दुःखाभाव में भी जाति मानते हैं, जैसा कि कहा गया है—अतः अनुवृत्तिव्यावृत्ति-बुद्धि से ग्राह्य एवं प्रमेय होने के कारण अभाव भी गवादि के समान वस्तुरूप है।

५. उक्त अनुमान वैशेषिक-मत से अनैकान्तिक भी है, क्योंकि आकाश और वायु का संयोग भी योगी के अन्तःकरणमात्र से ग्राह्य होने पर भी अनित्य होता है। अस्मदादि विशेषण लगाने पर व्यर्थ-विशेषणता है। नादात्मक शब्द में भी नित्यत्व के न रहने पर भी उक्त हेतु विद्यमान है, अतः व्यभिचार स्पष्ट है। इस प्रकार अनुमान

शब्दः । यदपरजातीयेन विना समवायिकारणत्वाभावः, स गुण । केवलनिमित्त-कारणे च वर्तमानापरजातीयत्वं वा । समवाय्यसमवायिकारणरहितेऽपि वर्तमाना-परजातीयत्वं वा ।

के द्वारा शब्द में सिद्ध की गई अनित्यता प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध होती है, 'नष्टः शब्दः'—ऐसा अवाधित प्रत्यक्ष सभी को होता है। शब्द आकाश का विशेष गुण है। जिसमें द्रव्यत्वरूप अपर जाति के विना समवायिकारणत्व नहीं रहता, उन्हें गुण कहते हैं। अथवा अदृष्टादि केवल निमित्तकारणों में वर्तमान अपर जाति (गुणत्व) के आधार को गुण कहा जाता है। अथवा समवायी और असमवायि-कारण में न रहनेवाली अपर जाति (गुणत्व) के आश्रय के गुण कहा करते हैं।

न सन्ति दोषा जगतीतलेयदि,
परप्रमात्वे परता तु का भवेत् ।
पराश्रयत्वाद् यदि ते गुणास्ततः,
गुणा भवेयुः कटकादयस्तव ॥
अभावरूपा यदि दोषवल्लरी,
तया सुनद्धः कथमाप्त ईश्वरः ।
विदोषतां ख्यापयितुं तु केवलम्,
गिरो न दोषाः कणभुग्भिरीरिताः ॥

मानमनोहर ग्रन्थ में गुणपदार्थ का निरूपण समाप्त ।

(४)

कर्मपदार्थप्रकरणम्

१. आद्यसंयोगविभागवसमवायिकारणजो, कार्यत्वाद्, घटवदिति कर्मसिद्धिः । तच्च प्रत्यक्षम्, प्रमेयत्वाद्, घटवत् । विमतिपदमिन्द्रियसंयोगव्यतिरिक्तं संयोगावसमवायिकारणग्राहकम्, द्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वात्, मनोवत् । कर्म, अप्रत्यक्षम्, कर्मत्वादिति दृष्टान्तासिद्धिः । अयोगीति विशेषणेन व्याप्त्यसिद्धः, योग्यनभ्युपगमात् । तत्कारणादेव संयोगविभागसिद्धिः । कर्मासिद्धिप्रसंगश्च ।

२ तच्चानन्तापरजातीयम्, पतनोत्क्षेपणादिप्रत्ययानां तुल्यत्वात् । आद्यविभागासमवायिकारणजातीयं कर्म संयोगविभागयोरनपेक्षकारणत्वाद्वा । एतेन विश्वस्माद् भेदग्राहिभ्यो गुणेभ्योऽपि भेदसिद्धिः कर्मणः ।

---

(४)

कर्म-प्रकरण

१. 'प्रथम संयोग और प्रथम विभाग अपने असमवायिकारण से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि कार्य (जन्य) हैं, जैसे घट'--इस अनुमान के द्वारा कर्म (क्रिया) की सिद्धि होती है। कर्म प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि प्रमेय है, जैसे - घट [यह योगी की प्रत्यक्षता सिद्ध की गई है। श्री सर्वदेव सूरि ने उभय-विध प्रत्यक्षता सिद्ध की है--'तत् प्रत्यक्षं प्रमेयत्वाद् घटवदिति तस्य प्रत्यक्षत्वम्। घटकर्म अस्मदादिप्रत्यक्षं गुणान्यत्वे सति घटसमवेतत्वात् सत्तावदित्यस्मदादिप्रत्यक्षत्वम्' (प्र. मं. पृ. १३)]। विवादास्पद इन्द्रिय (चक्षु या त्वक्) संयोग-भिन्न संयोगासमवायिकारण (कर्म) की ग्राहक होती है, क्योंकि द्रव्य की ग्राहक इन्द्रिय है, जैसे-- मन। कर्म अप्रत्यक्ष होता है, क्योंकि कर्म है--इस अनुमान में दृष्टान्तासिद्धि दोष है, क्योंकि कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो योगी की प्रत्यक्ष न हो। अयोगी के लिए अप्रत्यक्ष है-ऐसा साध्य बनाने पर योगी न मानने वालों के मत में व्याप्यत्वासिद्धि होती है। कर्मरूप कारण से ही संयोग और विभाग की सिद्धि होती है।

२. कर्म में उत्क्षेपणत्वादि अनन्त अपर जातियाँ हैं, क्योंकि पतन उत्क्षेपणादि की प्रतीतियां समान होती हैं। प्रथम विभाग के असमवायि-कारण में रहनेवाली जाति (कर्मत्व) वाले को कर्म कहते हैं। अथवा संयोग और विभाग के प्रति जो निरपेक्ष कारण हो, वह कर्म कहलाता है। इसलिए विश्व के भेदक गुणों से भी कर्म का भेद सिद्ध होता है। [द्रव्यादि से कर्म का भेद बल-पूर्वक इसीलिए सिद्ध किया जाता है।

कि बौद्ध एवं जैन दार्शनिक द्रव्य से कर्म को भिन्न नहीं मानते थे। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित ने कहा है—

देशान्तरोपलब्धेस्तु नैरन्तर्येण जन्मनः।
समानापरवस्तूनां गतिभ्रान्तिः प्रदीपवत् ॥ (त. सं. ७०६)

अर्थात् अनन्तर देश में पूर्व वस्तु-स्वलक्षण के समान किन्तु भिन्न स्वलक्षण का जन्म होने के कारण वस्तु में गमन किया की भ्रान्ति हो जाती है, वस्तुतः गमन गन्ता द्रव्य से भिन्न सिद्ध नहीं होता। वक्र तर्क प्रणाली के आधार पर नागार्जुनपादने भी यही सिद्ध किया है—

गन्ता न गच्छति तावदगन्ता नैव गच्छति।
गन्तारं हि तिरस्कृत्य गमनं नोपपद्यते ॥ (मा.शा पृ. ३५)

क्षणिकत्ववाद के विरोधी होने पर भी जैन तार्किकों ने कहा है—"न चेदमर्थादर्थान्तरम्, तथाभूतस्यास्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भेनासत्वात्। प्रयोगः—यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते, तन्नास्ति यथा क्वचित् प्रदेशे घटः, नोपलभ्यते च विशिष्टार्थस्वरूपव्यतिरेकेण कर्मेति" (प्र. क. मा. पृ ६०१)। अर्थात् द्रव्य से भिन्न कर्म की उपलब्धि हो नहीं होती। किन्तु महर्षि कणाद अपनी आँखों से कर्म देखते हैं—'संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि" (कणादसू ४।१।१५)]।

(५)

सामान्यपदार्थप्रकरणम्

यद्यप्येकाकारप्रत्ययस्य भिन्नेष्वेकनिमित्तमन्तरेणानुपपद्यमानत्वेन सामान्यसिद्धिरिति न युक्तम्. तथाविधदर्शनेऽपि विप्रतिपत्तेः। सति कल्पकस्य प्रामाण्येऽविवादात् तत्साधितमिति न युक्तम्, तद्बाधितमित्यपि वक्तुं शक्यत्वात्। तथापि—

कारणस्य हि सिद्धत्वाद् विकल्पस्यापि भेदतः।
व्यावृत्तेरपि भिन्नत्वादन्योऽन्याश्रयदूषणात्॥

---

(५)

जाति-प्रकरण

यद्यपि 'भिन्न-भिन्न गवादि व्यक्तियों में समानाकार प्रतीति किसी एक निमित्त (धर्म) के विना सम्भव नहीं, अतः जाति की सिद्धि होती है'—यह कहना उचित नहीं, क्योंकि समानाकार प्रतीति विवादग्रस्त है। समानाकार प्रतीति अबाधित होने के कारण प्रमाण है, अतः विवाद को कोई अवसर नहीं—यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि समानाकार प्रतीति बाधित होने से प्रमाण नहीं—यह भी कहा जा सकता है। [तथापि १. कारणस्य सिद्धत्वात्, २. विकल्पस्यापि भेदतः, ३. व्यावृत्तेरपि भिन्नत्वात्—इत्यादि हेतुओं से सामान्य की सिद्धि की जाती है—

१. कारणस्य सिद्धत्वात्—कारण की सिद्धि एवं जात्यादि विकल्प स्वीकार करने के कारण जाति का मानना आवश्यक है। जाति को अपोह या अतद्व्यावृत्तिरूप मानने में अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। प्रतीत्यसमुत्पादवादी बौद्ध जगत् के कारणीभूत मौलिक बारह तत्त्वों में परस्पर सापेक्षता या कार्य-कारणभाव मानते हैं, जो कि किसी अनुगत कारणतावच्छेदक और कार्यतावच्छेदक धर्म के विना सम्भव नहीं। अतः द्रव्यादि में समवायिकारणतावच्छेदक के रूप में द्रव्यत्वादि जाति का मानना अनिवार्य है। पार्थसारथिमिश्र ने भी कहा है—'ननु हेतवो विलक्षणाः कथमेकविधसामर्थ्ययुक्तानि स्वलक्षणानि जनयन्ति? न जनयेयुर्यदि विलक्षणाः स्युस्ते पि त्वेकजातीया एव' (शा. दी. पृ.१०३)। सर्वदेव सूरि ने भी कहा है—'सामान्यानभ्युपगमे लिङ्गलिङ्गिनोरविनाभावस्य दुर्ज्ञानत्वादनुमानानुष्ठानं न स्यात्, धूमधूमध्वजानामनन्तानामुपसंग्राहकाभावात्' (प्र. मं. पृ. १४)। अथवा बौद्धों का आक्षेप

तस्मादस्ति जातिः ।

था कि न तो जाति के प्रत्यक्ष ज्ञान का कोई कारण उपलब्ध होता है और न जाति के अनुमान का। उसका उत्तर है—'कारणस्य सिद्धत्वात् ।' इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्य अनुगत आकार की प्रतीति ही जाति की ग्राहिका है, जैसा कि जयन्त भट्ट ने कहा है—'नापि जात्यादेरसत्त्वम्' इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नबाधसन्देहरहितप्रत्ययगम्यत्वात्, स्वलक्षणवत्' (न्या. मं. पृ. ३०९)। मिश्रजी की भी सशक्त वाणी यही कहती है—

'प्रत्यक्षबलसिद्धस्य सामान्यस्य कुतर्कतः।
न शक्योऽपह्नवः कर्तुं सर्वं विजयते हि तत् ॥' (शा. दी. पृ. ९९)

२. विकल्पस्यापि भेदतः—सौगतगण पाँच विकल्प मानते हैं— १. जाति-कल्पना, २. गुण-कल्पना, ३. क्रिया-कल्पना, ४. नाम-कल्पना, ५. द्रव्यकल्पना (न्या. मं. पृ ९३)। इनमें जाति-कल्पना भी एक कल्पना का भेद है, जिसका निरूपण जाति माने विना सम्भव नहीं। कल्पना विषय वस्तु से उत्पन्न नहीं होती, केवल वासना से प्रसूत होती है, अतः कल्पना के द्वारा सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती, वह खपुष्पके समान अलीक मात्र है—"एवमेताः प्रवर्तन्ते वासनामात्रनिर्मिताः। कल्पितालीकभेदादिप्रपञ्चाः पञ्चवासनाः।" (न्या.मं.पृ.९४)। इस तर्क का निराकरण करने के लिए कहा गया है—'विकल्पस्यापि भेदतः।' अर्थात् उपचारार्थक विकल्प का भी भेदन (खण्डन) आचार्यों ने कर दिया है। श्रीसर्वदेव सूरि ने विकल्प के सम्भावित सभी पक्षों की पुष्कल समालोचना की है—"किं निर्विषयत्वं कल्पनात्वम्? किं वा शब्दसम्पृक्तार्थप्रतिभासकत्वम्? आहो स्वित् स्मरणानन्तरभावित्वम्? नाद्यः इदमित्यबाधितधीविषयत्वात्" (प्र. मं. पृ. १४)। शून्यवाद एवं विज्ञानवाद की तीखी समालोचना से न्यायवैशेषिक, मीमांसा तथा जैन दर्शन का विपुल कलेवर भरा पड़ा है।

३. व्यावृत्तेरपि भिन्नत्वादन्योऽन्याश्रयदूषणात्—अपोहवादी बौद्ध अतद्व्यावृत्तिरूप से गोत्वादि जाति का निरूपण किया करते हैं। उनका निरास करने के लिए कहा जाता है कि अतद्व्यावृत्तिधर्म भी एक नहीं होता, भिन्न-भिन्न एवं बौद्ध-मत में अभाव तुच्छ वस्तु है, उससे भी कार्यकारणभावापन्न पदार्थों का संग्रह नहीं हो सकता। सर्वदेव सूरि ने कहा है—'अथ मतं वस्तुभूतं सामान्यं नास्ति, तथाप्यतद्व्यावृत्तेः सामान्यस्य विद्यमानत्वात्। तदुपसंग्राहकत्वादनुमानं प्रवर्तते

१. सत्ता—

विवादपदं द्रव्यं समानजातीयसमवायिकारणम्, समवायिकारणत्वात्, मृद्वत् । न च स्पर्शवत्त्वमुपाधिः, अन्त्यावयविनि तत्र व्यभिचारात् । अस्माकं तु व्याप्तिकाले सत्ताप्रतिपत्तौ चान्यत्रापि सिद्धिः, व्याप्तिविघटकत्वेन व्याप्तिकाले एवास्य दूषणत्वात् । व्याप्त्युत्तरकालभावित्वात् पक्षादिव्यवस्थायाः । विहाय सत्तामन्त्यावयविषु साध्या-भावेऽप्युपाधेर्भावात् ।

इति चेत्, न, अतद्व्यावृत्तेरवस्तुत्वादुपसंग्राहकाभावात्'' (प्र.मं.पृ.१४)। मानमनोहरकार ने इस पक्ष में अन्योऽन्याश्रय दोष भी दिया है। जयन्त भट्ट ने भी कहा है—"अथ गोसामान्यमगोप्रतिषेधेन सिद्ध्यति, तदा दुस्तरमितरेताराश्रयत्वम्—अगोनिषेधेन गोसिद्धिः, गोसिद्ध्या चागोनिषेधसिद्धिरिति" (न्या. मं. पृ. २०५)। रत्नकीर्ति ने इस दोष को उलट कर सामान्यवादियों पर वही दोषारोपण किया है—"न चागवापोढे गोशब्दसङ्केतविधावन्योऽन्याश्रयदोषः, सामान्ये तद्वति संकेतेऽपि तद्दोषावकाशात् (र. की. नि. पृ. ५४)]। फलतः जाति सिद्ध हो जाती है।

[जातितत्त्व की सिद्धि हो जाने के पश्चात् उसके दो भेद बताये जाते हैं—पर (सत्ता) और अपर (द्रव्यत्वादि) इन जातियों की सिद्धि के लिए क्रमशः अनुमान-प्रयोग किये जाते हैं—]

१. सत्ता—

विवादास्पद द्रव्य स्वसमान जातिवाले कार्यों का समवायिकरण होता है, क्योंकि समवायिकरण है, जैसे—पृथिवी। [पृथिवी के घट, पटादि कार्यों में समानजातीयता की उपपत्ति के लिए जैसे पृथिवीत्व जाति माननी पड़ती है, वैसे ही द्रव्य के कार्यभूत द्रव्य, गुण और कर्म में साजात्य स्थापित करने के लिए सत्ता जाति माननी पड़ती है।] उक्त अनुमान में स्पर्शवत्त्व धर्म को उपाधि नहीं कह सकते, क्योंकि आप के मत से अन्तिम अवयवी घटादि में स्पर्शवत्त्व रहने पर भी साध्य नहीं रहता, अतः वह साध्य का समव्याप्त नहीं। और हमारे (वैशेषिकों के मतानुसार व्याप्ति-ग्रहण-काल में सत्ता की प्रतीति होने पर ही अन्यत्र उसकी सिद्धि हो सकेगी, क्योंकि उपाधिरूप दोष व्याप्ति का विघटक होने के कारण व्याप्ति-ग्रहण के उत्तर काल में होता है। सत्ता को छोड़कर अन्त्यावयवी में साध्याभाव होने पर भी उपाधि रह सकती है।

२. द्रव्यत्वम्—

विवादाध्यासितं रूपावृत्तिस्पर्शवज्जातिमत्, समवायिकारणत्वाद् घटवत्—अत्र विप्रतिपत्तिविषयस्यैव तथाविधत्वान्न साध्ये विशेषणोपादानाद् दूषणम्, अन्यथा उद्घाटितमात्रमेव साधनीयम् ।

३. पृथिवीत्वम्—

विवादाध्यासितम् उदकावृत्तिजातिमद्, गन्धत्वाद्, घटवत् ।

४. जलत्वम्—

विवादाध्यासितम् पृथिव्यवृत्तिजातिमद्, गुरुत्वाद्, घटवत् ।

---

२. द्रव्यत्व—

विवादास्पद (द्रव्य) रूप में अवृत्ति स्पर्शवृत्ति जाति का आश्रय होता है, क्योंकि, समवायिकारण है, जैसे—घट [सत्ता जाति की व्यावृत्ति के लिए रूपावृत्ति और कर्मत्व की व्यावृत्ति करने के लिए स्पर्शवद्वृत्ति विशेषण दिया है, अन्य व्याप्य (पृथिवीत्वादि) जातियाँ समवायिकारणता की व्यापक नहीं, अतः परिशेषतः द्रव्यत्व सिद्ध हो जाता है]। विप्रतिपत्ति की विषयीभूत विरुद्ध कोटियाँ वादी-प्रतिवादी की अपनी-अपनी साध्य हुआ करती है। वैशेषिक ने रूपावृत्तित्वादि विशेषणों के द्वारा उसी का बोध कराया है। यदि विप्रतिपत्ति वाक्य में द्रव्यत्व का उल्लेख किया जाय, तब शब्दतः उसका उल्लेख करना चाहिए।

३. पृथिवीत्व—

विवादास्पद (पृथिवीत्व) उदक में अवृत्ति जातिवाला है, क्योंकि गन्धवाला है, जैसे—घट। [गन्ध की व्यापक तीन जातियां हैं—सत्ता, द्रव्यत्व और पृथिवीत्व। उदकावृत्ति विशेषण से सत्ता और द्रव्यत्व की व्यावृत्ति हो जाती है, शेष पृथिवीत्व की सिद्धि होती है]।

४. जलत्व—

विवादास्पद (जल) पृथिवी में अवृत्ति जातिवाला है, क्योंकि गुरु है, जैसे—घट। [गुरुत्व गुण पृथिवी और जल दो द्रव्यों में रहता है। पृथिव्यवृत्ति पद से सत्ता, द्रव्यत्व और पृथिवीत्व की निवृत्ति होकर परिशेषतः जलत्व जाति सिद्ध होती है।]

५. तेजस्त्वम्—

विवादाध्यासितम् अनुष्णावृत्तिजातिमद्, उष्णत्वाद्, दीपवत्। वाय्ववृत्तित्व-साधने रूपित्वादिति वाच्यम्।

६. वायुत्वम्—

विवादाध्यासितम् आकाशावृत्तिजातिमत्, स्पर्शत्वाद् घटवदिति।

७. आत्मत्वम्—

विप्रतिपन्नम् आकाशावृत्तिजातिमद्, अश्रौत्रविशेषगुणाधारत्वाद्, घटवत्।

८. मनस्त्वम्—

विवादपदम् आत्मावृत्तिजातिमत्, मूर्तत्वाद्, घटवत्।

९. द्रव्यत्वादेः प्रत्यक्षत्वम्—

विवादपदं कर्मावृत्तिचाक्षुषजातिग्राहकम्, इन्द्रियत्वात्, मनोवत्।

---

५. तेजस्त्व—

विवादास्पद (तेज) अनुष्णावृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि उष्ण है, जैसे—दीपक। सत्ता ओर द्रव्यत्व की व्यावृत्ति अनुष्णावृत्ति पद से हो जाती है। उष्णत्व-व्यापक तेजस्त्व की परिशेषतः सिद्धि हो जाती है। वाय्व वृत्तित्व साध्य करने पर रूपित्व हेतु देना चाहिए।

६. वायुत्व—

विवादास्पद (वायुतत्त्व) आकाशावृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि स्पर्शवाला है, जैसे—घट [आकाशावृत्ति पद से सत्ता और द्रव्यत्व की व्यावृत्ति हो जाती है]।

७. आत्मत्व—

विवादास्पद (आत्मा) आकाशावृत्ति जातिवाला है, क्योंकि अश्रावण विशेषगुण (ज्ञानादि) का आधार है, जैसे—घट। [आकाशावृत्ति पद से सत्ता और द्रव्यत्व की व्यावृत्ति होती है, आकाश में शब्द-रूप विशेषगुण श्रावण है, अश्रावण नहीं, काल, दिशा और मन में कोई विशेषगुण नहीं रहता, अतः शेषतः आत्मत्व की सिद्धि होती है]।

८. मनस्त्व—

विवादास्पद (मन) आत्मा में अवृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि मूर्त है, जैसे—घट। [आकाशावृत्ति पद से सत्ता तथा द्रव्यत्व की व्यावृत्ति हो जाती है]।

९. द्रव्यत्व और गुणत्व की प्रत्यक्षता—

विवादास्पद (त्वगिन्द्रिय) कर्मावृत्ति चाक्षुष जाति (द्रव्यत्व

१०. रूपत्वम्—

असमवायिकारणं पीतम्, अपीतवृत्तिगन्धावृत्तिमत्, केवलनिमित्तकारण-व्यतिरिक्तकारणत्वे सति गन्धान्यत्वाद्, घटवत् ।

११. रूपत्वस्य प्रत्यक्षत्वम्—

विप्रतिपन्नं स्पर्शनेन्द्रियाग्राह्यजातिग्राहकम्; स्पर्शनव्यतिरिक्तेन्द्रियत्वात्, मनोवत् । एवं रसत्वादेरपि प्रत्यक्षत्वं वाच्यम् ।

१२. नीलत्वम्—

नीलम् अनीलरूपावृत्ति जातिमत्, केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वे

और गुणत्व) की ग्राहक होती है, क्योंकि इन्द्रिय है, जैसे—मन । [गुणत्व जाति की सिद्धि सर्वदेव सूरि ने की है—"कार्यगुणः कर्मावृत्तिजातिमान्, कार्यत्वात्, तुरगवत्" (प्र. मं. पृ. १५) । मान-मनोहरकार ने यहां द्रव्यत्व और गुणत्व की प्रत्यक्षता सिद्ध की है । मन आत्मा में द्रव्यत्व और ज्ञानादि में गुणत्व का ग्राहक होता है, वे दोनों जातियां घट और घटगतरूपादि में चाक्षुष है, वैसे ही त्वगिन्द्रिय भी घट में द्रव्यत्व तथा घटगत स्पर्शादि में गुणत्व की ग्राहक है वे दोनों चाक्षुष हैं] ।

१०. रूपत्व—

असमवायिकाणभूत पीतरूप पीतातिरिक्त में वृत्ति एवं गन्ध में अवृत्ति जातिवाला है, क्योंकि केवल निमित्तकारण से व्यतिरिक्त और गन्ध से भिन्न है, जैसे घट । [घट केवल निमित्तकारण नहीं, किन्तु किसी कार्य का निमित्त और किसी का समवायिकारण भी है । घट-गत घटत्व जाति पीतरूपातिरिक्त द्रव्य में वृत्ति एवं गन्ध में अवृत्ति भी है । उसी प्रकार पीतरूप में रूपत्व जाति ही वैसी जाति है । सत्ता ओर गुणत्व जातियाँ गन्धावृत्ति नहीं और पीतत्व जाति पीतातिरिक्त वृत्ति नहीं] ।

११. रूपत्व की प्रत्यक्षता—

विवादास्पद (चक्षु) त्वगिन्द्रिय से अग्राह्य जाति (रूपत्व) की ग्राहक होती है, क्योंकि त्वगिन्द्रिय से भिन्न इन्द्रिय है, जैसे-मन [जैसे मन त्वगिन्द्रिय से अग्राह्य आत्मत्व या ज्ञानत्व का ग्राहक है, वैसे चक्षु वैसी रूपत्व जाति का ग्राहक होता है] । इसी प्रकार रसत्वादि जातियों की भी प्रत्यक्षता सिद्ध कर लेनी चाहिए ।

१२. नीलत्व—

नीलरूप नील-भिन्न रूप में अवृत्ति जाति (नीलत्व) वाला होता

सत्यनीलव्यतिरिक्तत्वाद्, घटवत् । एवं पीतत्वादिष्वपि वाच्यम् ।

१३. रसत्वम्—

रसः संयोगावृत्तिजातिमान्, केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वे सति संयोगान्यत्वाद्, घटवत् ।

१४. मधुरत्वम्—

मधुरोऽमधुररसावृत्तिजातिमान्, केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वे सत्यमधुररसव्यतिरिक्तत्वाद्, घटवत् । एवं तिक्तत्वादिष्वपि वाच्यम् ।

१५. गन्धत्वम्—

गन्धो रूपावृत्तिजातिमान्, केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वे सति रूपान्यत्वाद्, घटवत् ।

१६. सुरभित्वम्—

सुरभिरसुरभिगन्धावृत्तिजातिमान्, केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वे सत्यसुरभिगन्धान्यत्वाद्, घटवत् ।

है, क्योंकि केवल निमित्तकारण से भिन्न कारण एवं अनील रूप से व्यतिरिक्त है, जैसे—घट । इसी प्रकार पीतत्वादि की सिद्धि की जा सकती है ।

१३. रसत्व—

रस संयोग में अवृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि केवल निमित्त-कारण से व्यतिरिक्त तथा संयोग से भिन्न है, जैसे—घट ।

१४. मधुरत्व—

मधुर रस मधुरातिरिक्त रस में अवृत्ति (मधुरत्व) जातिवाला होता है, क्योंकि केवल निमित्त कारण से भिन्न कारण एवं अमधुर रस से व्यतिरिक्त है, जैसे—घट । इसी प्रकार तिक्तत्वादि जातियाँ भी सिद्ध होती हैं ।

१५. गन्धत्व—

गन्ध रूप में अवृत्ति (गन्धत्व) जातिवाली होती है, क्योंकि केवल निमित्तकारण से व्यतिरिक्त कारण तथा रूप से भिन्न है, जैसे—घट ।

१६. सुरभित्व—

सुरभि सुरभि-भिन्न गन्ध में अवृत्ति जातिवाली होती है, क्योंकि केवल निमित्तकारण से भिन्न एवं असुरभि गन्ध से व्यतिरिक्त है, जैसे—घट ।

१७. स्पर्शत्वम्

स्पर्शो रसावृत्तिजातिमान्, केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वे सति रसान्यत्वाद्, घटवत् ।

१८. शीतत्वम्—

शीतोऽशीतस्पर्शावृत्तिजातिमान्, केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वे सत्यस्पर्शान्यत्वाद्, घटवत् । एवमशीतत्वादिष्वपि वाच्यम् ।

१९. संख्यात्वम्—

संख्या परिमाणावृत्तिजातिमती, केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वे सति परिमाणान्यत्वाद्, घटवत् । एवं द्वित्वादिष्वपि वाच्यम् ।

२०. परिमाणत्वम्—

असमवायिकारणं महत्त्वं संख्यावृत्तिमहत्त्वान्यपरिमाणवृत्तिजातिमत्, केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वे सति संख्याव्यतिरिक्तत्वत्, तद्वत् ।

२१. पृथक्त्वम्—

असमवायिकारणंपृथक्त्वं परिमाणावृत्त्येकपृथक्त्वव्यतिरिक्तवृत्तिजातिमत्,

---

१७. स्पर्शत्व--

स्पर्श रस में अवृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि केवल निमित्त-कारण से व्यतिरिक्त कारण तथा रस से भिन्न है, जैसे—घट ।

१८. शीतत्व—

शीत स्पर्श शीत स्पर्श से भिन्न स्पर्श में अवृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि केवल निमित्त कारण से भिन्न अशीत स्पर्श से अन्य है, जैसे—घट । इसी प्रकार अशीतत्वादि की सिद्धि की जाती है ।

१९. संख्यात्व--

संख्या परिमाण में अवृत्ति जातिवाली होती है, क्योंकि केवल निमित्तकारण से व्यतिरिक्त कारण एवं परिमाण से भिन्न है, जैसे—घट । इसी प्रकार द्वित्वादि की सिद्धि करनी चाहिए ।

२०. परिमाणत्व--

असमवायिकारण महत्त्व संख्या में अवृत्ति, महत्त्व-भिन्न परिमाण में वृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि केवल निमित्तकारण से भिन्न और संख्या से व्यतिरिक्त है ।

२१. पृथक्त्वत्व--

असमवायिकारणभूत पृथक्त्व परिमाणावृत्ति एकपृथक्त्व से अन्य पृथक्त्व में वृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि परिमाण से भिन्न तथा एकपृथक्त्व से अन्य पृथक्त्व में वृत्ति (पृथक्त्वत्व) जातिवाला है,

परिमाणव्यतिरिक्तत्वे सति केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वात्, तद्वत्। एवं चैकपृथक्त्वावादिष्वपि वाच्यम्। न च तत्र सामान्याभावः, एकपृथक्त्वद्विपृथक्त्व-शब्दानामन्यथोपपन्नावपि नियामकापरजातिमन्तरेण द्विपृथक्त्वोत्पत्तावेकपृथक्त्वस्य हेतुत्वानिर्णयात्। अन्वयव्यतिरेकव्यवस्थापकाभावात्।

२२. संयोगत्वम्—

विप्रतिपन्नमसवायिकारणं पृथक्त्वावृत्तिजातिमत् केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तकारणत्वे सति पृथक्त्वान्यत्वात्, तद्वत्।

२३. विभागत्वम्—

विभागः संयोगावृत्तिजातिमान्, संयोगव्यतिरिक्तत्वे सति द्वयासमवायिकारणत्वाद् द्वितन्तुकवत्।

२४. परत्वम्—

परत्वं विभागावृत्तिजातिमत्, संयोगासमवायिकारणत्वात्। अपरत्वबुद्धित्वादिष्वप्येवं वाच्यम्। गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारेष्वपि प्राचीनमनुमानं वाच्यम्।

जैसे--घट। इसी प्रकार एकपृथक्त्वत्वादि की सिद्धि कर लेनी चाहिए। एकपृथक्त्वादि में जाति नहीं रहती --ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एकपृथक्त्व द्विपृथक्त्वादि शब्दों की प्रवृत्ति एकपृथक्त्वत्वादि जाति के विना हो जाने पर भी अपर जातिरूप नियामक (हेतुत्वावच्छेदक) के विना द्विपृथक्त्व की उत्पत्ति में एकपृथक्त्व की हेतुता का उपपादान नहीं किया जा सकेगा। [आशय यह है कि हेतुत्वावच्छेदक और कार्यतावच्छेदक धर्मों के विना अन्वय-व्यतिरेक की व्यवस्था नहीं होती और उसके विना कार्य-कारणभाव का निर्णय सम्भव नहीं होता]।

२२. संयोगत्व--

विवादास्पद असमवायिकारण (संयोग) पृथक्त्व में अवृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि केवल निमित्त कारण से व्यतिरिक्त कारण एवं पृथक्त्व से अन्य है, जैसे – घट।

२३. विभागत्व—

विभाग संयोग में अवृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि संयोग से व्यतिरिक्त तथा से का असमवायिकारण होता है, जेसे—द्वितन्तुक।

२४. परत्व—

परत्व विभागावृत्ति जातिवाला होता है, क्योंकि संयोगरूप असमवायिकारण का कार्य है। अपरत्व और बुद्धित्वादि में भी इसी प्रकार जाति की सिद्धि की जा सकती है। गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और संस्कारों में पूर्वोक्त अनुमान-प्रयोग करना चाहिए।

२५. ब्राह्मणत्वम् प्रत्यक्षत्वस्य –

विवादाध्यासितं ब्राह्मणव्यतिरिक्तवर्णावृत्तिजातिग्राहकम्, इन्द्रियत्वात्, चक्षुर्वत् ।

२६. ब्राह्मणत्वम्—

ब्राह्मणोऽब्राह्मणमनुष्यानाधारजात्याधारः, अब्राह्मणमनुष्यव्यतिरिक्तत्वे सत्यवयवित्वाद्, गोवत् । विवादाध्यासितः शरीरसन्तानोऽयोनिजः, शरीरसन्तानत्वाद्, गोमयजवृश्चिकशरीरसन्तानवद् – इत्यनुमानेनाब्राह्मणपूर्वके क्वचिद् ब्राह्मणशब्दे प्राप्ते न ब्राह्मणजन्यशरीरनिबन्धनो ब्राह्मणशब्दः । एवं शूद्रत्वादिष्वप्यौपाधिकनिराकरणं वाच्यम् ।

२७. कर्मत्वम् –

उत्क्षेपणं गुणानाश्रयाक्षेपणत्वव्यतिरिक्तजातिमत्, केवलनिमित्तकारणव्यतिरिक्तत्वे सत्यगुणत्वाद्, घटवत् । नन्वत्र कर्ममात्रपक्षीकारे वाय्वादिषु व्यभिचारः, अविप्रतिपन्नानामपि पक्षीकारे कर्मत्वासिद्धिः, किन्त्वन्यदेव कर्मवाय्वोरनुगतं सामान्यं स्यात् । नैवम्, न ह्यत्र परममीषामेकजातीयत्वं साध्यते, किन्तु गुणाना-

---

२५. ब्राह्मणत्व की प्रत्यक्षता—

विवादास्पद ब्राह्मण से भिन्न वर्णों में अवृत्ति जाति की ग्राहक होती है, क्योंकि इन्द्रिय है, जैसे--चक्षु ।

२६. ब्राह्मणत्व—

ब्राह्मण ब्राह्मणेतर मनुष्यों में अवृत्ति जाति का आधार होता है, क्योंकि ब्राह्मणेतर मनुष्यों से भिन्न अवयवी है, जैसे-गौ । विवादास्पद (आदिम ब्राह्मण-शरीर) शरीर-सन्तान अयोनिज होता है, क्योंकि शरीर-सन्तान है, जैसे—गोवर-जनित वृश्चिक का शरीर-सन्तान—इस अनुमान के द्वारा ब्राह्मण-शरीर से अनुत्पन्न आदिम शरीर में भी ब्राह्मण शब्द का प्रयोग देखा जाता है। अतः ब्राह्मण शरीर-जन्य ब्राह्मणत्व 'ब्राह्मण' शब्द का प्रवृत्ति निमित्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार शूद्रत्वादि में भी शूद्र शरीर जन्यत्वादि उपाधियों का निराकरण करना चाहिए ।

२७. कर्मत्व—

उत्क्षेपण गुण में अवृत्ति, उत्क्षेपणत्व-भिन्न (कर्मत्व) जाति का आश्रय होता है, क्योंकि केवल निमित्तकारण से भिन्न और गुण से व्यतिरिक्त है, जैसे–घट । यदि कोई शङ्का करता है कि इस अनुमान में कर्ममात्र को पक्ष बनाने पर वायु आदि में व्यभिचार है । अविवादास्पद वायु आदि-साधारण पक्ष बनाने पर कर्मत्व की परिशेषतः सिद्धि

श्रथोत्क्षेपणत्वव्यतिरिक्तजातिमात्रम् । या चैकानेकतातीतिज्ञमानांतनिर्णयथा । तत्राकाशवृत्तिजातिमत्वादिति साधनैरतिरिक्तजातिप्रसक्तौ तद्विषयत्वेनाप्यस्य निर्वाहात्, न वाय्वादिष्वतिरिक्तानुगमे प्रमाणमस्ति । कर्मणि त्वनेन साध्यमानं न कर्मत्वादतिरिच्यते । गुणावृत्तित्वे सति सकलकर्मवृत्त्युत्क्षेपणत्वव्यतिरिक्तत्वस्य वा तत्वात् । तथाविधस्यात्र प्रतीतेः केवलकर्मत्वसाधनस्यात्र वाय्वादावनैकान्तिकत्वपरिहारार्थं विप्रतिपन्नपदोपादानम् । वाय्वादिगतं मानान्तरोपनीतं भेदमवगाहतेऽतो न कर्मत्वासिद्धिः । परन्तु वाय्वादौ प्रश्नः स्यात् । कथकानां कथान्तरहेत्वन्तराण्यप्यनुसन्धेयानि । एवं रूपत्वादिष्वप्यनुसन्धेयम् । तस्मादभिप्रेतसंसिद्धौ पीतापीतादिसमवेतत्वे सति गन्धावृत्तित्वमिति रूपत्वमित्यलम् ।

नहीं हो सकेगी, अपि तु कर्म तथा वायु आदि में अनुगत कोई विलक्षण सामान्य धर्म ही सिद्ध होगा। तो वह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहां सभी गुणातिरिक्त पदार्थों में सजातीयता सिद्ध नहीं की जाती, किन्तु गुणावृत्ति उत्क्षेपण-भिन्न जातिमात्र । जो वायु आदि में अनुगत सामान्यान्तर की प्रसक्ति कही थी, वह उचित नहीं, क्योंकि (कर्म) आकाश-वृत्तिजातिमत्वात्-इस साधन के द्वारा अतिरिक्त जाति की प्रसक्ति होती है, उसको विषय कर लेने से भी साध्य का निर्वाह हो जाता है, वायु आदि में अनुगत जात्यन्तर के होने में कोई प्रमाण नहीं। कर्म में तो उक्त अनुमान के द्वारा साध्यमान जाति कर्मत्व से भिन्न नहीं सिद्ध होती 'गुणावृत्तित्वे सति सकलकर्मवृत्युत्क्षेपणव्यतिरिक्तत्वात्'—इस हेतु का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि उसकी ही यहाँ केवल कर्मत्व-साधन के रूप में प्रतीति होती है। वायु आदि में अनैकान्तिकता का परिहार करने के लिए 'विप्रतिपन्नं' पद का उपादान किया गया है। वायु आदि में प्रमाणान्तर से सिद्ध कर्म-भेद विशेषण-विधया प्रतीत हो रहा है, अतः कर्मत्व की असिद्धि नहीं होती है। परन्तु वायु आदि के विषय में जिज्ञासा हो सकती है। इसी प्रकार अन्य हेतुओं का भी अनुसंधान कर लेना चाहिए। रूपत्वादि जाति के साधन की भी यही दिशा है। रूपत्वादि की सिद्धि हो जाने पर उसका लक्षण इस प्रकार किया जाता है—पीत आदि रूपों में समवेत एवं गन्धावृत्ति धर्म को रूपत्व कहते हैं। जाति

नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतं सामान्यम् ।

का लक्षण है—नित्यत्वे सति अनेकसमवेतं सामान्यम् ।

[जाति की अनेक वृत्तिता पर आक्षेप करते हुए शान्तरक्षित ने कहा है :

अपि चानेकवृत्तित्वं सामान्यस्य यदुच्यते ।
तत्र केयं माता वृत्तिः स्थितिः किं व्यक्तिरेव वा ॥ (त.सं.पृ.३१९)

इसी प्रकार सम्पूर्ण जाति एक आधार में रहती है, अथवा जाति का कोई एक अंश । इस प्रकार के विकल्पों का समाधान करते हुए पार्थसारथि मिश्र ने यह ध्वनित किया है कि अवयवी और सामान्य दोनों पदार्थ अपने आधार में रहते हैं, किन्तु अवयवी व्यासज्य वृत्ति होकर रहता है, तो सामान्य तत्त्व प्रत्येक में पर्याप्त रहता है—' सामान्यं प्रत्येकं वर्तत अवयवी तु व्यासज्येत्येवं विशेषः । व्यक्त्यन्तरमनपेक्ष्यैव व्यक्त्यन्तरे वर्तमाना स्वानुरूपां बुद्धिं जनयन्ती जातिः प्रत्येकं वर्तत इत्युच्यते, न तु कात्स्न्येंन वृत्तिः । अवयवी त्वव-यवान्तराण्यपेक्ष्यावयवान्तरे वर्तमानः स्वाकारां बुद्धिं जनयन् व्यासज्य वर्तत इति व्यपदिश्यते नह्येकस्पामेवव्यक्तौ गोबुद्धिवदेकस्मिन्नेव, तन्तौ पटबुद्धिरुत्पद्यते । श्री कुमारिल भट्ट ने इसका और अच्छा स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

प्रत्येकसमवेतत्वं दृष्टत्वान्न विरत्स्यते ।
तथा सत्यपि नानात्वं नैकबुद्धिर्भविष्यति ॥
कात्स्न्यीऽवयवशोवृत्तिः प्रष्टुं जातौ न सुज्यते ।
न हि भेदविनिर्मुक्ते कात्स्न्यभागविकल्पनम् ॥ (श्लो.वा.पृ.६२१)

(६)

विशेषपदार्थप्रकरणम्

१. विवादपदं गुणसामान्यव्यतिरिक्तसमवायि, द्रव्यत्वाद्, घटवत्। निःसामान्य एकैकसमवायी विशेषः।

---

(६)

विशेष पदार्थ का निरूपण

१. [विशेष पदार्थ की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है—] विवादास्पद (आकाशादि विभु द्रव्य) गुण और जाति से भिन्न पदार्थ का समवायी (समवाय सम्बन्ध से आश्रय) होता है, क्योंकि द्रव्य है, जैसे—घट [गुण और सामान्य से भिन्न कर्म (क्रिया) की समवायिता घट में है, अतः घट में दृष्टान्तता का निर्वाह हो जाता है, किन्तु निष्क्रिय आकाश में कर्म नहीं रहता है, अतः वहाँ गुण और सामान्य से व्यतिरिक्त कोई ऐसा पदार्थ मानना होगा, जो समवाय सम्बन्ध से रहे, वही पदार्थ विशेष है। गुण और जाति की समवायिता आकाश में पहले सिद्ध है, अतः सिद्ध-साधनता दोष से बचने के लिए तद्व्यतिरिक्त कहा है। ग्रन्थकार को 'विवादास्पद' पद से विभु द्रव्य का ग्रहण ही अभिमत है, अत एव श्रीचित्सुखाचार्य ने कहा है—'आकाशं गुणसामान्यव्यतिरिक्तसमवायि द्रव्यत्वाद् घटवदिति मानमनोहरकारोक्तमनुमानम्' (चित्सु.पृ.३३०)। विशेष का लक्षण होता है—"निःसामान्य एकैकसमवायी" [द्रव्य, गुण और कर्म की व्यावृत्ति के लिए निःसामान्य कहा। एक सामान्य (जाति) अनेक व्यक्तियों में समवेत होती है, अतः उसकी निवृत्ति के लिए एकेन एकसमवायी कहा है। एक नित्य द्रव्य के साथ एक ही विशेष पदार्थ का समवाय होता। न तो एक विशेष अनेक में रहता है और न अनेक एक में रहते हैं, किन्तु एक विशेष एक ही आश्रय में रहता है। सर्वदेव सूरि ने भी ऐसा ही लक्षण किया है—"निःसामान्य एकैकसमवायी विशेषः" (प्र. मं. पृ. १५)]।

(७)

समवायस्य निरूपणम्

१. विवादास्पदं घटसम्बद्धम् द्रव्यत्वाद्, आत्मवत्। विवादास्पदं नित्यसंबन्धेन सम्बद्धं, द्रव्यत्वाद् आकाशवत्। आकाशशब्दयोश्च नित्यसम्बन्धो भाट्टैरभ्युपगम्यते, अतो न साध्यविकलता तत्र संयोगसमवायमात्रे विप्रतिपत्तिर्न धर्मिणि।

२. अपरे नु संयोगः स्वव्यतिरिक्तसम्बन्धाद् भिन्नः, मेयत्वादिति ब्रुवते। कः पुनरत्रानुकूलतर्कः? [न तावत्] समानाधिकरणप्रतीत्यनुपपत्तिः, सा हि न सम्बन्धमात्रे, नाप्यसति सम्बन्धे रज्जुघटयोर्हिमवद्विन्ध्ययोश्च तदभावात्। भेदाभेदनिबन्धनासाविति चेत्, अस्ति तावद् भेदः सम्प्रतिपन्ना घटरूपयोः, अभेदः पुनः कः स्यात्? भेदाभावः, तद्विरोधी, तदन्यो वा? न तावत् प्रथमः, विरोधात्।

---

(७)

समवाय का निरूपण

विवादास्पद (कपाल) से घट सम्बन्धित होता है, क्योंकि द्रव्य है, जैसे—आत्मा। [घट और आत्मा का अप्राप्ति-पूर्वक प्राप्तिरूप संयोग सम्बन्ध जैसे होता है, वैसे कपाल और घट की अप्राप्ति न होने के कारण संयोग से भिन्न सम्बन्ध मानना पड़ता है, वही समवाय है। उसकी नित्यता सिद्ध की जाती है—] विवादास्पद [गुणी द्रव्य अपने गुण के साथ] नित्य सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धित होता है, क्योंकि द्रव्य है, जैसे—आकाश। आकाश और शब्द का नित्य सम्बन्ध भाट्टगण मानते हैं [भाट्टगण शब्द को नित्य द्रव्य मानते हैं, जैसा कि पार्थसारथि मिश्र ने कहा है—"वर्णानां तु नित्यानां द्रव्यत्वमङ्गीक्रियते" (शा. दी. पृ. १४६)। उसका आकाश के साथ नित्य संयोग हो सकता है]। अतः दृष्टान्त (आकाश) में साध्य-विकलता नहीं है। शब्द और आकाश का नित्य सम्बन्ध संयोग है, अथवा समवाय—इस विषय में विवाद है, नित्य सम्बन्ध रूप धर्मी में नहीं।

२. कतिपय विद्वान् समवाय की सिद्धि के लिए ऐसा अनुमान-प्रयोग करते हैं—संयोग स्वव्यतिरिक्त सम्बन्ध से भिन्न होता है, क्योंकि प्रमेय है। [इस अनुमान के द्वारा संयोग से भिन्न जो सम्बन्ध प्रतीत होता है, वह समवाय है। आनन्दज्ञान ने इसका निराकरण करते हुए कहा है—"संयोगः स्वातिरिक्तसम्बन्धाद् भिन्नः, मेयत्वाद्, घटवदिति समवायसिद्धिरिति चेत्, न; योग्यता-सम्बन्धवादिनः सिद्धसाध्यत्वात्" (त. सं. पृ. १२७)]। उक्त अनुमान में अनुकूल

न द्वितीयः, आश्रयकृतः, स्वरूपकृतः, कार्यकृतो वा विरोधः स्यात् : सर्वथा तद्विरोधानुवृत्तेः। द्वितीये तु तदेवास्तु किमनेन प्रथमेन ? तृतीयः समवायेनानतिरेकात्, नास्ति तत्र विप्रतिपत्तिः। घटरूपयोरितरेतराभावो नास्तीति चेत्, भेदोऽस्ति, इतरेतराभावो नास्तीति व्याहतम्, तयोः पर्यायत्वात्। स्वरूपं भेदश्चेत्, तर्हि तत्प्रतीतेः प्रतियोगिसापेक्षत्वं दुर्घटम्। न च प्रथमद्वितीयौ, घटरूपयोरुभयोरभावप्रसङ्गात्। नापि चरमः, तयोर्हि कार्यं प्रतिपत्तिः स्यात्, तद्व्यतिरिक्तं वा किञ्चित् ? तत्रैव स्थितिरितरप्रतिविरोधिनी तदतिरिक्तापेक्षिणी वा ? प्रथमे न कदाचिदपि तयोः प्रतिपत्तिः स्यात्, सर्वदा तद्विरोधानुवृत्तेः।

तर्क क्या है ? "नीलो घटः" इस प्रकार का समानाधिकरण-व्यवहार सम्बन्ध के विना सम्भव नहीं। अतः नील गुण और घटरूप गुणी में अवश्य सम्बन्ध होना चाहिए। इस प्रकार सामानाधिकरण्य-प्रतीति को अनुकूल तर्क नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामानाधिकरण्य-प्रतीति से सम्बन्ध सामान्य भी सिद्ध नहीं होता। आशय यह है कि सम्बन्ध के न होने पर जैसे हिमालय और विन्ध्याद्रि में सामानाधिकरण्य-व्यवहार नहीं होता, वैसे रज्जु और घट का सम्बन्ध होने पर भी 'रज्जुर्घट'—इस प्रकार की सामानाधिकरण्य-प्रतीति नहीं होती, अतः सामानाधिकरण्य-प्रतीति के द्वारा किसी सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि उक्त प्रतीति का निमित्त भेदाभेद है। तो वह भी उचित नहीं, क्योंकि घट और संयोग का भेद-व्यवहार तो होता है—घटस्य संयोगः। किन्तु अभेद कैसा अभिमत है ? भेदाभावरूप ? या भेद-विरोधी ? अथवा भेद-भिन्न ? प्रथम विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि भेद और भेदाभाव का अत्यन्त विरोध है। द्वितीय विकल्प में विरोध चाहे आश्रय-प्रयुक्त हो, या स्वरूपतः हो, या कार्य-कृत हो, सर्वथा विरोध की निवृत्ति नहीं होती। यदि भेद का विरोध है, तब भेद की क्या आवश्यकता ? तृतीय (तदन्य) पक्ष तो समवाय से अभिन्न है। जिसमें विवाद ही बना है। घट और रूप में समवाय तो है, किन्तु इतरेतराभाव (भेद) नहीं, अतः समवाय और तदन्यता को अनतिरिक्त कैसे कहा जा सकता है ? ऐसी शङ्का नहीं कर सकते क्योंकि उनमें भेद है, किन्तु तदन्यता नहीं—यह कथन नितान्त विरुद्ध है। भाव यह है कि भेद और इतरेतराभाव दोनों पर्याय (समानार्थक) हैं, अतः उसी का विधान एवं उसी का निषेध कैसे संगत होगा ? यदि भेद को गुण और गुणी का स्वरूप माना जाता है, तब भेद के समान ही स्वरूप भी सप्रतियोगिक हो जायगा। प्रथम और द्वितीय पक्ष में घट और घट के रूप को अभावस्वरूप भी मानना होगा। तृतीय (कार्यकृत विरोध)

द्वितीये तु तावदेवास्तु किमनेन ? तृतीये सविदां जन्मैव दुर्घटम् । यद् यस्माद् भिन्न-शब्दवाच्यम्, तत् तदपेक्षया भिन्नम्, यथा घटापेक्षया घटगत रूपमिति ।

३. विवादाध्यासिताः शब्दा आकाशसमवायेनैव समवायिनः, समवायित्वात्, शब्दाकाशवत् । न च समवायस्यैकत्वे वस्तुसङ्करप्रसङ्गः, तस्य समस्तविश्वासंकरत्वेनैव परिकल्पितत्वात् । न हि तस्याप्रत्यक्षस्य पूर्वं स्वभावो निर्धारितः । एकस्य भिन्नस्वभावत्वेऽन्य इति चेत्, न; चित्ररूपवत् तथाविधस्यैकस्वभावात् । एवं च कल्पनालाघवात् समवायस्य नित्यत्वं क्वचित् परेणाभ्युपगमात् । तस्मात् तत्समवायस्य नित्यत्वम्, एकत्वस्य साधितत्वात् । समवायोऽस्मदादिप्रत्यक्षो न भवति, अस्मादादिप्रत्यक्षाप्रत्यक्षसम्बन्धत्वाद्, घटाकाशसम्बन्धवत् । नित्यसम्बन्धः समवायः । इह प्रत्ययविषयीभावः ।

षट् पदार्थाः समाप्ताः ।

—:०:—

पक्ष में भेद और तद्विरोधी का कार्य ज्ञानोत्पत्ति अथवा उससे भिन्न कोई और कार्य मानना होगा। तब तो कोई भी ज्ञान आत्मलाभ न कर सकेगा, क्योंकि सुन्दोपसुन्द के समान दोनों एक दूसरे के घातक हैं। वस्तु-स्थिति यह है कि जो दो पदार्थ भिन्न-भिन्न (अपर्याय) शब्दों से कहे जाते हैं, वे दोनों भिन्न होते हैं, अतः घट और घटगत रूप का भेद ही मानना चाहिए। भिन्न वस्तुओं की विशिष्ट प्रतीति के लिए उनका सम्बन्ध अनिवार्य है।

३. [प्रकृत में सम्बन्ध समवाय है। उसकी एकता सिद्ध करते हैं –] विवादास्पद शब्द (वर्ण-समूह) आकाश के समवाय से युक्त होकर समवायी होते हैं, क्योंकि शब्द हैं [आकाश एक होने के कारण आकाश का समवायी भी एक ही होगा, अनेक नहीं]। समवाय के एक होने पर भी प्रतियोगी और अनुयोगी के भेद से सब व्यवस्था बन जायगी, पदार्थों में साङ्कर्य नहीं होगा, क्योंकि गुण और गुणी आदि को व्यवस्थित रखने के लिए ही समवाय माना जाता है। समवाय अप्रत्यक्ष है, अतः उसका स्वभाव पहले से निर्धारित नहीं किया जा सकता। एक समवाय के अनेक स्वभाव मानने पर उसे भी अनेक स्वीकार करना पड़ेगा—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि चित्ररूप के समान उस की एकता अक्षुण्ण है। इस प्रकार कल्पना-लाघव को ध्यान में रखकर समवाय की नित्यता का सिद्धान्त अन्य दार्शनिकों ने भी प्रतिपादित किया है। अतः समवाय नित्य होता है, उस की एकता पहले ही सिद्ध की जा चुकी है। का साधारण जीवों को समवाय प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वह प्रत्यक्ष (शब्द) और अप्रत्यक्ष (आकाश) का

है—"नित्यसम्बन्धः समवायः इहप्रत्ययविषयीभावः"। [वैशेषिकाचार्य सम्बन्ध है, जैसे--घट और आकाश का सम्बन्ध। समवाय का लक्षण सूत्रकार महर्षि कणाद कहते हैं—"इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः, स समवायः" (कणादसू. ७।२।२६) अर्थात् 'इह तन्तुषु पटः'—इस प्रकार कारण वस्तु में कार्य की वृत्तिता के व्यवहार का निमित्त जो सम्बन्ध होता है, उसे समवाय कहते हैं। इसकी आलोचना करते हुए सौगत सरस्वती के वरद पुत्र ने कहा है—

तदेतदिहविज्ञानं परेषामेव वर्तते।
स्वसिद्धान्तानुरागेण न दृष्टं लौकिकं तु तत्॥
स्वेच्छया रचिते वास्मिन् कल्पितेष्वपि वस्तुषु।
न कारणनियोगोऽयं परं प्रत्युपपद्यते॥
वृक्षे शाखाः शिलाश्चाग इत्येषा लौकिकी मतिः।
तौ पुनस्तास्विति ज्ञानं लोकातिक्रान्तमुच्यते॥ (त.सं.पृ.३२८)

अर्थात् इह तन्तुषु पट—इस प्रकार का व्यवहार केवल वैशेषिकों के घर में होता है, सर्व-साधारण ऐसा नहीं होता; 'प्रत्युत इह पटे तन्तवः', 'वृक्षे शाखा', 'पर्वते शिलाः'— इस प्रकार का विपरीत व्यवहार ही देखा जाता है। अतः उक्त व्यवहार के आधार पर समवाय की सिद्धि नहीं की जा सकती। जैनाचार्यों ने भी इसे ही दोहरा दिया है—"पटे तन्तवो, 'वृक्षे शाखाः'—इत्यादिरूपतया प्रतीयमानप्रत्ययेन इह तन्तुषु पट--इति प्रत्ययस्य बाध्यमानत्वात्" (प्र. क. मा. पृ. ६११)]।

छः पदार्थों का निरूपण समाप्त।

(८)

अभावपदार्थप्रकरणम्

१. यदि नास्तीति प्रत्ययवेद्यमानोऽपि त्वया नेष्ट इति वक्तुं नोचितम्। केवलज्ञानं चास्माभिरभ्युपगतमिति, तदपि विकल्प्य दूषणीयम्। पतनादिकार्यं प्रतिबन्धकाभावोत्पादककारणादेवोत्पाद्यते कार्यत्वात् दाहादिवत्।

२. अघटं भूतलमिति व्यवहारो भूतलातिरिक्तविषयः, भूतलमात्रव्यवहारातिरिक्तत्वे सति भूतलव्यवहारत्वादिति मानं भूतलमिति व्यवहारेणानैकान्तिकम्। तथाप्यभावोऽभ्युपगन्तव्यः केवलज्ञानाभावेऽप्यभावव्यहारदर्शनात्। भवति हि

---

(८)

अभाव पदार्थ का प्रकरण

१. 'नास्ति'—इस प्रकार की प्रतीति का विषय अभाव होता है। इसके लिए यह कहना कि हम (प्रभाकर) नहीं मानते, सर्वथा अनुचित है। जो यह प्रभावकरण कहते हैं कि केवल (भाव-संसर्ग-निरपेक्ष) भूतल को ही हम नास्ति-प्रतीति का विषय मानते हैं, वह भी विकल्प उठाकर निरस्त कर देना चाहिए। पतन आदि क्रिया अपने प्रतिबन्धकाभाव के उत्पादक कारण से उत्पन्न होती है, क्योंकि क्रिया है, जैसे—दाहादि [इस अनुमान के द्वारा कार्यमात्र में प्रतिबन्धकाभाव की कारणता सिद्ध होती है। उसकी उपपत्ति के लिए अभाव पदार्थ का मानना आवश्यक है]।

२. [यद्यपि अघटं (निर्घटं) भूतलम्—यह प्रतीति भूतल से अतिरिक्त (घटाभाव) पदार्थ को भी विषय करती है, क्योंकि वह केवल भूतल की प्रतीति से भिन्न एवं भूतलावगाही है—यह अनुमान 'भूतलम्'—इस प्रकार की प्रतीति में व्यभिचरित है। तथापि अभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि केवल भूतल का ज्ञान न होने पर भी अभाव-व्यवहार देखा जाता है। जैसे कि घट और घटगत रूप की विशिष्ट प्रतीति होती है, वहां केवल घट या केवल रूप का ज्ञान न होने पर भी घट में रूप का एवं रूप में घट का अन्योऽन्याभाव प्रतीत होता है। इसी प्रकार अन्धकार में बैठे दो व्यक्तियों को आधार का ज्ञान न होने पर भी अन्तराल (बीच) में आलोकाभाव की प्रतीति होती है। यहाँ तक कि एक अन्धा व्यक्ति भी हाथ से टटोल कर यह जान लेता है

घटतद्रूपयोः सहोपलम्भेऽपि रूपं घटो न भवतीति भिन्नश्चोत्पादव्यवहारः, न च तत्र केवलज्ञानमस्ति। आधाराग्रहणेऽपि सर्वेषामन्तराले आलोकाभावव्यवहारात्। करपरामर्शेनान्धकारेऽन्धस्यापि मूर्ताभावव्यवहारदर्शनात्। किञ्च चक्षुश्चक्षुर्ग्राह्यभावव्यतिरिक्तग्राहकम्, इन्द्रियत्वात्।

३. स चतुर्विधः, प्रागभावप्रध्वंसाभावान्योऽन्याभावात्यन्ताभावभेदात्। प्रतियोगिभेदाद् भिन्नत्वमभावस्य, तादात्म्यसंसृष्टपूर्वापरसंसृष्टानां प्रतियोगित्वात्। अन्यथा प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वं दुर्घटम्। अत्यन्ताभावस्यापीतरेतराभावेऽन्त-

---

कि यहां घट नहीं है। [व्यवहार के बल पर अभाव की सिद्धि की गई। अनुमान-प्रयोग के द्वारा भी अभाव सिद्ध किया जाता है—] चक्षु स्व-ग्राह्य भाव पदार्थ से अतिरिक्त पदार्थ का ग्राहक होता है, क्योंकि इन्द्रिय है। [श्रीचित्सुखाचार्य ने मानमनोहर के अनुमानों का पूर्णरूप इस प्रकार उद्धृत किया है—"चक्षुश्चाक्षुषभावातिरिक्तग्राहकमिन्द्रियत्वाद् घ्राणवत्। निर्घटं भूतलमिति विज्ञानमेतद्विज्ञानालम्बनमात्रातिरिक्तालम्बनम्, एतद्भावमात्रालम्बननिर्विकल्पकेतरज्ञानत्वात्, सघटं भूतलमिति ज्ञानवत्" (चित्सु. पृ. ४४८)। प्रथम अनुमान में चाक्षुष भाव पदार्थों से भिन्न गन्ध का ग्राहक जैसे घ्राण है, वैसे ही चक्षु भी चाक्षुष भाव पदार्थों से भिन्न तत्त्व का ग्राहक तभी हो सकता है, जब कि रूपादि का अभाव माना जाय। द्वितीय अनुमान में जैसे 'सघटं भूतलम्'—यह ज्ञान 'निर्घटं भूतलम्'—इस ज्ञान के विषयीभूत भाव से अतिरिक्त घट का ग्राहक है, वैसे ही 'निर्घटं भूतलम्'—यह ज्ञान तभी अतिरिक्त वस्तु का ग्राहक हो सकता है, जब कि घटाभाव माना जाय। अतः अभाव पदार्थ सिद्ध हो जाता है]।

३. यह अभाव चार प्रकार का होता है—१. प्रागभाव, २. प्रध्वंसाभाव, ३. अन्योऽन्याभाव तथा ४. अत्यन्ताभाव। प्रतियोगी के भेद से अभाव के ये भेद हो गये हैं, क्योंकि अन्योऽन्याभाव का तादात्म्य, अत्यन्ताभाव का संसृष्ट (भूतलादि-संसर्ग-विशिष्ट घटादि), प्रागभाव का पूर्वकाल-संसृष्ट और प्रध्वंस का उत्तरकाल-संसृष्ट प्रतियोगी होता है। अन्यथा (अन्योऽन्याभाव) का तादात्म्य को प्रतियोगी न मानकर घटादि को ही प्रतियोगी मानने पर प्रतिबन्धकात्यन्ताभाव कार्यमात्र का कारण सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि प्रतिबन्धक-प्रतियोगिक होने के कारण प्रतिबन्धकान्योऽन्याभाव और प्रतिबन्धकात्यन्ताभाव दोनों अभिन्न हो जायंगे, प्रतिबन्धकान्योऽन्याभाव प्रतिबन्धक के समवधान काल में भी रहता है, जब कार्य उत्पन्न नहीं होता। प्रतिबन्धकाभाव रहने पर भी कार्य नहीं होता, अतः अन्वयव्यभिचार हो जाने के कारण प्रति-

भावात् । तस्य च सत्यपि प्रतिबन्धे भावाद् व्यभिचारः । समवायान्योऽसमवाय्य-भावः ।

बन्धकाभाव को कारण कैसे माना जा सकेगा ? अभाव का लक्षण होता है—'समवायान्योऽसमवायी अभावः, [द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष पांचों पदार्थ अपने आधार में समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण समवायी होते हैं, किन्तु समवाय और अभाव दो पदार्थ समवायी नहीं होते। समवाय में अतिव्याप्ति न हो, अतः समवायान्य कहा है]।

(६)

पदार्थान्तरनिराकरणम्

१-शक्तेः पदार्थान्तरत्वनिरासः—

शक्तिरपि पदार्थान्तरमस्तीति चेत्, न; तत्सद्भावे प्रमाणाभावात्। स्फोटानुपपत्तिरपि चेत्, न; प्रतिबन्धाभावेनाप्युपपत्तेः। तत्र च प्रागभावादिविकल्पाः योग्यतानुपलब्धिसामान्येन परिहर्तव्याः। कार्यलक्षणाभ्युपगमेनोत्तम्भकमन्त्रस्य स्फोटोत्पत्तावपि नानियतहेतुत्वम्।

"व्रीहीन् प्रोक्षति"—इति द्वितीयायाश्च न तत्समवेतसंस्कारवाचकत्वं क्रियाजन्यफलभागित्वं च न तत्समवायिनमाक्षिपति, किन्तु तादर्थ्यमात्रम्। अन्यथो-

---

(९)

पदार्थान्तर-निराकरण-प्रकरण

१. शक्ति की पदार्थान्तरता का निरास—

मीमांसकों का यह कहना कि शक्ति भी एक पदार्थान्तर तत्त्व है, उचित नहीं, क्योंकि शक्ति के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं। किसी प्रतिबन्धक के कारण अग्नि की शक्ति जब कुण्ठित हो जाती है, तब उस से स्फोट (जलते बांसों का फटना) आदि कार्य क्यों नहीं होता? इस का उत्तर यह है कि उस कार्य में प्रतिबन्धकाभाव भी अपेक्षित है। प्रतिबन्धकाभाव के विषय में जो प्रतिवादियों के द्वारा विकल्प उठाये जाते हैं कि प्रतिबन्धकाभाव शब्द से प्रतिबन्धक का प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव अथवा अन्योन्याभाव विवक्षित है? उन विकल्पों के निराकरण में इतना कह देना पर्याप्त है कि प्रतिबन्धक की योग्यानुपलब्धि विवक्षित है। उत्तम्भक (उत्तेजक) के अभाव से युक्त जो प्रतिबन्धक, उसके से अभाव सहकृत सामग्री को कार्य का जनक माना जाता है, अतः उत्तम्भक के द्वारा कार्य की उत्पत्ति होने पर कोई हेतु में अनियतत्व नहीं आता।

"व्रीहीन् प्रोक्षति"—इस वाक्य में व्रीहि पदोत्तर द्वितीया विभक्ति व्रीहि-समवेत संस्कार की वाचक नहीं। क्रिया-जन्य फलाश्रयरूप कर्मत्व द्वितीया का वाच्य है, उससे व्रीहि-समवेत संस्कार का आक्षेप नहीं हो सकता। किन्तु उक्त कर्मत्व के द्वारा प्रोक्षण में तादर्थ्य (व्रीहि की अङ्गता) मात्र प्रतीत होता है [भाव यह है कि यहां प्रोक्षण क्रिया

पयुक्तानां प्रस्तरादीनां होमेनोत्पाद्यमानः संस्कारो न तेषां स्यात्, तेषां विनष्टत्वात्। न च तत्र संस्कार्यत्वं नास्ति, "भूतभाव्युपयोगं च द्रव्यं संस्कारमर्हति"—इति न्यायात्। तत्र च निराश्रयस्य संस्कारस्यावस्थानानुपपत्तेरात्माश्रयत्वं कल्पनीयम्। तद्वदितरत्रापि भवतु, को दोषः ?

अङ्ग है और व्रीहि अङ्गी। प्रोक्षण-जन्य संस्कार या शक्ति की आश्रयता का व्रीहि में तभी आक्षेप कर सकते थे, जब कि अङ्ग और अङ्गी का नियमतः आश्रयाश्रयीभाव होता, किन्तु ऐसा नहीं राजोपभोग-सम्भार का संवहन राजा नहीं करता, अपि तु उष्ट्रादि करते हैं, स्वयं कुमारिल भट्ट ने कहा है—

तादर्थ्येन हि शेषत्वं नाश्रयाश्रयिभावतः।
राजर्थौपयिकं नित्यमुष्ट्रो वहति कुङ्कुमम्॥ (तं. वा. पृ.३९८)

अतः व्रीहिकर्मक प्रोक्षणादि क्रिया से जन्य संस्कार या अदृष्ट यजमान के आत्मा में रहेगा, व्रीहि आदि जड़ पदार्थों में संस्कार या शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं, आचार्य उदयन के सारगर्भित उद्गार हैं—

संस्कारः पुंस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः।
स्वगुणाः परमाणूनां विशेषाः पाकजादयः॥ (कुसु. १।११)]

यदि कर्मकारक को ही क्रिया-जन्य संस्कार का आश्रय माना जाय, तब "सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति"—इस वाक्य से विहित प्रहरण (अग्नि में प्रक्षेपण) से जनित संस्कार प्रस्तर (मुट्ठी भर कुशा, जिसे वेदी में बिछाते हैं, उस पर हवि भर कर जुहु आदि रखे जाते हैं) के आश्रित नहीं रह सकता, क्योंकि कार्य सम्पन्न हो जाने पर सूक्तवाक नाम के मन्त्रविशेष को पढ़ते हुए उपयुक्त प्रस्तर का अग्नि में प्रक्षेप कर देते हैं, अतः वह भस्मसात् हो जाता है। प्रस्तर जैसे नष्ट हो जाने वाले पदार्थों का संस्कार विहित ही नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वार्तिककार ने स्पष्ट कहा है—भूतभाव्युपयोगं हि संस्कार्यं द्रव्यमिष्यते (तं वा. २।१।१२)। अर्थात् जिस द्रव्य का भूत (पूर्व काल में) उपयोग हो चुका है, इस प्रकार के उपयुक्त प्रस्तरादि एवं भावी (उत्तर काल) में जिसका उपयोग होनेवाला है, ऐसे उपयोक्ष्यमाण व्रीहि आदि द्रव्यों का संस्कार किया जाता है। यदि कहा जाय कि जहां संस्कार्य द्रव्य नष्ट हो जाता है वहां संस्कार का आश्रय आत्मा को माना जाता है। तब तो सर्वत्र संस्कारों को आत्माश्रित मान लेने में क्या दोष है ?

२–ज्ञाततायाः पदार्थान्तरत्वनिरासः—

'घटमहं जानामि'—इत्यत्र प्राभाकराणां नये ज्ञानजनितफलस्य घटे कस्यचिदभावात् तत्र कथं कर्मत्वमिति चिन्त्यम्। अत एव भाट्टैर्ज्ञाततोऽभ्युपगम्यते इति चेत्, तेषामप्यतीतानागतेषु का वार्त्ता? तत्रापि जातेरनुवर्तमानत्वादोष इति चेत्, कथं तर्हि व्यक्तौ ज्ञातत्वम्? तयोरभेदादिति चेत्, न; भेदस्यापि विद्यमानत्वात्। भेदेऽप्यदोष इति चेत्, न; रसनेन रसज्ञानमात्रेणैव तदाश्रयस्यापि ज्ञातत्व प्रसङ्गात्। सत्ताज्ञानत्वमात्रेणैव जात्यन्धस्यापि रूपज्ञानप्रसङ्गः। ज्ञाततानभ्युपगमात् कथं ज्ञानस्य विषयनियम इति चेत्, ज्ञाततायाः एव कथमाश्रयनियमः? कारणमहिम्नेति चेत्, समः समाधिः।

३–विशिष्टतायाः पदार्थान्तरतानिरासः—

एतेन विशिष्टतापि निराकृता, तदुत्पादकसामग्र्या एव विजातीयज्ञानोत्पत्ताव-

---

२. ज्ञातता की पदार्थान्तरता का निराकरण—

घटमहं जानामि–इस स्थल पर प्राभाकर गण ज्ञान-जनित कोई फल घटाश्रित नहीं मानते, अतः उनके मतानुसार घट में कर्मत्व क्योंकर होगा–यह विचारणीय है। अत एव भट्ट-पक्षीय मीमांसक ज्ञान-जन्य ज्ञाततारूप फल घटाश्रित मानते हैं। उन के मत में भी अतीत और अनागत विषयों पर ज्ञातता कैसे रहेगी? अतीतादि पदार्थों में जाति (सामान्य मानी जाती है, वही ज्ञातता का आधार रहेगी। तब अतीतानागत व्यक्तियों में कर्मता का व्यवहार कैसे होगा? जाति और व्यक्ति का अभेद होता है, अतः जात्याश्रित ज्ञातता का व्यवहार व्यक्ति में भी हो जायगा ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि भाट्टगण धर्म-धर्मी में भेदाभेदवादी हैं, भेद के साथ अभेद भी तो रहता है। अभेद के भी रहने पर क्या दोष? दोष यही है कि रसना से रस गुण का ज्ञान होने पर रस के आश्रय द्रव्य पर भी ज्ञातता माननी होगी, क्योंकि रस और उसके आश्रय का अभेद होता है। इसी प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति को सत्ता जाति के ज्ञानमात्र से उसके आश्रयीभूत रूपगुण का भी ज्ञान हो जायगा। इस कुतर्क-जाल में उलझ कर यदि ज्ञातता को मानना छोड़ दिया जाय, तब ज्ञाताज्ञात विषय की व्यवस्था कैसे होगी? ज्ञातता को मानकर भी उसकी आश्रयता का नियामक कौन होगा? ज्ञान की सामग्री को यदि उसका नियामक माना जाय, तब वही ज्ञान की विषयता का नियामक हो जायगा।

३. विशिष्टता की पदार्थान्तरता का खण्डन—

ज्ञातता के समान ही विशिष्टता भी निराकृत हो जाती है, क्योंकि ज्ञान-जनक सामग्री की विचित्रता से विषयगत विशिष्टतादि

प्युपपत्तेः । न च विषयवैलक्षण्याभावे वैजात्यं दुर्घटम्, अनुभवस्मृत्योरवैजात्यप्रसङ्गात् । अधिकविषयत्वे स्मृतेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गात् । अन्याया विशिष्टताया अतीतानागतेऽव्यवस्थानं दुर्घटम्, आश्रयाभावात् ।

४. विषयीभावस्य पदार्थान्तरतानिरासः—

एतेन विषयीभावरूपः सम्बन्धो निरस्तः, तन्नियामकेनैव ज्ञानार्थयोर्नियमोपपत्तेः । एवं सन्निध्यादयोऽपि निराकर्त्तव्याः ।

५–सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वनिरासः—

अस्तु तर्हि सादृश्यं पदार्थान्तरमिति चेत्, न, मानाभावात् । न च व्यवहारो मानम्, तस्य सामान्यादिसम्बन्धत्वेन प्युपपत्तेः । कथं तर्हि सामान्ये सादृश्यव्यवहार कुतः ? "श्येनचितं चिन्वीत" (तै. सं. ५।४।११) इत्यत्रातिदेशनम् ?

की उपपत्ति हो जाती है। विषयगत विशिष्टता के विना सामग्री की विचित्रता दुर्घट है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विषय की विलक्षणता के विना ज्ञानों को विलक्षण न मानने पर समानविषयक होने के कारण अनुभव और स्मृति को समान ही मानना होगा। स्मृति के विषय में कुछ अधिकता मानने पर स्मृति को भी प्रमाण मानना होगा। अन्य प्रकार की विशिष्टता का अतीतानागत विषयों पर अवस्थान दुर्घट है, क्योंकि उसका आश्रय है ही नहीं।

४. विषयविषयिभाव की पदार्थान्तरता का प्रत्याख्यान—

विषयविषयिभावरूप सम्बन्ध भी उसी प्रकार निरस्त हो जाता है, क्योंकि उसके नियामक कारण-कलाप से ही ज्ञान और अर्थ का नियम बन जाता है। इसी प्रकार सान्निध्य आदि सम्बन्धों का भी निराकरण कर लेना चाहिए।

५. सादृश्य की पदार्थान्तरता का निराकरण—

सादृश्य को भी अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस में कोई प्रमाण नहीं। सादृश्य-व्यवहार को भी सादृश्य में प्रमाण नहीं कह सकते, क्योंकि अवयवादि की समानता से उस व्यवहार का निर्वाह हो जाता है। अवयवादि की समानता न होने पर जाति में सादृश्य-व्यवहार कैसे होगा ? एवं "श्येनचितं चिन्वीत" [श्येनजातीय स्थण्डिल का चयन करना चाहिए] इस प्रकार के अतिदेश का निर्वाह कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उक्त स्थलों पर व्यक्ति का सादृश्य ही प्रतीत होता है और श्येनादि शब्दों की व्यक्ति

तत्रापि व्यक्तिसादृश्यस्यैव प्रतीतेः। व्यक्तेश्च शब्दार्थत्वात्, श्येनत्वैकार्थसमवेत—द्वित्रधर्मवतोऽनुष्ठानस्य सम्भवात्। संकेतग्रहस्यौपाधिकशब्दवदुपपत्तेः।

६—प्रधानस्य पदार्थान्तरत्वप्रत्याख्यानम्—

एवं प्रधानादयोऽपि निराकार्याः, साधकाभावात्। न च विवादपदं साक्षात्परम्परया वा प्रकृतिजन्यम्, कार्यत्वादित्यवीतमिति वाच्यम्, व्याप्त्यसिद्धेः। न च सुखदुःखमोहाः कारणपूर्वकाः, कार्यत्वादिति साम्प्रतम्, संयोगादिषु व्यभिचारात्। न च सदुत्पत्तिपर्यालोचनया तत्सिद्धिः, तत्रैव विवादात्। न च तदर्थमुपादीयमानत्वात् तत्र सत्त्वम्, निमित्तकारणे व्यभिचारात्। न च सति कारणव्यापारः असार्थकत्वादिति जातिर्नियमञ्च न व्यवस्था घटते। येनैव प्रमाणेन

में शक्ति होती ही है, अतः वहां 'उड़ते हुए श्येन व्यक्ति के समान स्थण्डिल का निर्माण करना चाहिए'—ऐसा अर्थ सम्भव है। उस का शक्ति-ग्रह औपचारिक शब्द के समान उपपन्न हो जाता है।

६. प्रधान की पदार्थान्तरता का निवारण—

इसी प्रकार सांख्य-सम्मत प्रधानादि पदार्थ भी निराकरणीय हैं, क्योंकि उनका भी कोई साधक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। विवादास्पद (महदादि जगत्) साक्षात् या परम्परया प्रकृति-जन्य होता है, क्योंकि जन्य पदार्थ है—यह व्यतिरेकी अनुमान भी प्रधान तत्त्व का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि अपेक्षित व्याप्ति असिद्ध है। 'सुख, दुःख और मोह कारणपूर्वक होते हैं, क्योंकि कार्य हैं'—यह अनुमान भी उचित नहीं, क्योंकि प्रकृति और पुरुष के आरम्भिक संयोगादि में व्यभिचार है। सांख्य सत्कार्यवादी है। जैसे बीज में वृक्ष का संक्षिप्त या अविकसित रूप सदैव विद्यमान रहता है, समय और सामग्री का सहयोग पाकर उसी का विकासमात्र होता है, वैसे ही विश्वरूपी वृक्ष जिसमें समाया रहता है, ऐसे प्रधान बीज की सिद्धि होती है। यह सब कुछ तभी सम्भव है, जब कि सत्कार्यवाद निर्विवाद सिद्ध हो, किन्तु उसमें विवाद है। उपादान-ग्रहण से सत्कार्य तभी सिद्ध हो सकता था, जब कि कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादीयमान (संगृह्यमाण) कारणमात्र में कार्य की सत्ता होती, किन्तु निमित्त कारण में उपादीयमानता होने पर भी कार्य की सत्ता नहीं, अतः व्यभिचार स्पष्ट है। पटादि के सत् होने पर उसके लिए कारण-व्यापार (करघादि का सञ्चालन) व्यर्थ है। उपादानगोचर अपरोक्ष ज्ञान से शून्य जड़ प्रधान के द्वारा किसी प्रकार की कार्य-कारण-व्यवस्था नहीं की जा

घटभावसिद्धिस्तेनैव प्रमाणेन योग्यानुपलब्ध्या पटोत्पत्तेः पूर्वं तन्तुष्वपि पटाभावसिद्धिः। अयोग्यत्वेनानुपलब्धिशङ्कायामितरत्रापि सम्भावनां का निवारयेत्? कार्यापेक्षया चरमसहकारिकारणादुत्पत्तिरिति नानवस्थादूषणम्, मूलक्षतेरभावात्। नापि पुनरुक्तत्वविरोधो घटादिभिस्तस्याश्चोत्पत्तेरभ्युपगमात्। अभि-

---

सकती। जिस प्रमाण के द्वारा उत्पत्ति के पश्चात् पटादि का ग्रहण होता है, वहीं प्रमाण योग्यानुपलब्धि की सहायता से उत्पत्ति के पूर्व तन्तुओं में पटाभाव की सिद्धि करता है। यदि कहा जाय कि उत्पत्ति के पूर्व तन्तुओं में पट सूक्ष्मरूप से विद्यमान होने पर भी उपलब्धि के योग्य न होने के कारण उपलब्ध नहीं होता, तब तो पट की सर्वत्र कपालादि में भी सम्भावना को कौन हटायेगा? वहां भी उसकी अनुपलब्धि अयोग्यता के कारण बन जायगी। असत्कार्य-वाद में कार्य की अपेक्षा अन्तिम सहकारी कारण से कार्य की उत्पत्ति मानने पर अनवस्था दोष नहीं होता है, क्योंकि मूल की क्षति नहीं [आशय यह है कि वाचस्पति मिश्र ने असत्कार्य-वाद पर आक्षेप करते हुए कहा है कि 'केयमसदुत्पत्तिः? सती, असती वा? सती चेत् कृतं कारणैः। असती चेत्, तस्या अप्युत्पत्यन्तरमित्यनवस्था" (सां. त. कौ. ९)। इस अनवस्था के परिहार में मानमनोहरकार का कहना है—] प्रत्येक कार्य (जन्य वस्तु) अपने कारण से उत्पन्न होता है। कारण भी यदि जन्य है, तब वह अपने कारण से उत्पन्न होगा—यह उत्पत्ति-क्रम परमाणुओं में समाप्त हो जाता है। यह तथ्य व्यवहार-सिद्ध है—पट तन्तुओं से तन्तु अपने अंशु से उत्पन्न होता देखा जाता है। उत्पत्ति भी एक कार्य है, जिसकी सम्पत्ति कार्य की अन्तिम सामग्री के समवधान से हो जाती है। [मिश्र जी ने एक और आक्षेप किया है—"उत्पत्तिः पटान्नार्थान्तरम्, अपि तु पट एवासौ। तथापि यावदुक्तं भवति-पट इति, तावदुक्तं भवति—उत्पद्यत इति। ततश्च पट इत्युक्ते उत्पद्यत इति न वाच्यम्, पौनरुक्त्यात्" (सां.त.कौ.९)। इसका उत्तर दिया जाता है–] पुनरुक्तत्व-विरोध भी असत्कार्य-वाद में नहीं, क्योंकि पट की उत्पत्ति पट से भिन्न है और पट के साथ उसकी भी उत्पत्ति (अन्तिम साधन-सम्पत्ति) मानी जाती है। अभिव्यक्ति-पक्ष में सभी अभिव्यक्तियां सदातन है अतः दृष्टादृष्ट-व्यवस्था दुष्कर है। कार्य के सत् और असत् पक्ष को छोड़कर कोई तीसरा पक्ष सम्भव नहीं जैसा कि आचार्य उदयन ने कहा है—परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः" अर्थात् परस्पर विरोधि पक्षों में एक पक्ष का ग्रहण और दूसरे का त्याग आवश्यक है। प्रकृत में सत्कार्यवाद युक्ति-संगत नहीं,

व्यक्ते तु सर्वासामभिव्यक्तीनां सदातंनत्वाद् दृष्टादृष्टव्यवस्थादौः स्थ्यम् । किं बहुना "परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः" (न्या. कु. ३।८) इति न्यायात् पदार्थान्तराणां न सम्भवः, सप्तलक्षणानां परस्परविरोधादिति ।

❀

अतः उसका एवं उसके आधार पर आधारित प्रधान तत्व की पदार्थान्तरता का परित्याग करना ही होगा । प्रधानादि तत्त्वों में षड् भाव पदार्थों का लक्षण यदि नहीं घटता, तब अभावरूपता और यदि अभाव का लक्षण नहीं घटता, तब भावरूपता माननी अनिवार्य है [उक्त सप्त पदार्थों में ही विश्व का समावेश हो जाता है । आचार्य उदयन ने धर्माधर्मरूप अदृष्ट का ही वाचक प्रकृति (प्रधान) शब्द को माना है—मूलत्वात् प्रकृतिः (कुसु. १।५०)] ।

(१०)

मोक्षप्रकरण

१. तत्र हि द्रव्यादीनां हेयोपादेयस्वरूपेण ज्ञाने सति संसारस्य दुःखभूयस्त्वं पश्यतः सुखमपि दुःखानुषङ्गाद् दुःखपक्षे निक्षिप्तम् । उपनिषदा च ज्ञातजीवात्मब्रह्मणो वैशेषिकोक्तदृशा भगवद्भक्तिमनस्कस्य सद्गुरुकटाक्षपातक्षीणान्तरायस्य परमेश्वरसाक्षात्कारकुतूहलिनोऽहोरात्र निदिध्यासनमाचरतोऽनन्तकालक्रमेणपरिपक्वज्ञानस्य प्रकृष्टयोगजधर्मशालिनः कथञ्चित्साक्षात्कृतपरमेश्वरस्य प्रवृद्धप्रतिपक्षनिरवकाशीकृतमिथ्याज्ञानस्य कारणाभावादपगतरागद्वेषप्रवृत्तिसम्भावनस्याशेषदुःखाभावात् स्वेनरूपेण्णावस्थानं भवति । स चायं मोक्ष इति मनीषिभिरुदाह्रियते ।

२. न च सुखस्याप्यभावादप्रवृत्तिः, भवतामपि सुखस्याप्रवृत्तिकरत्वात् । न हि तत् साध्यम्, नित्यत्वव्याघातात् । न हि सिद्धार्थे कश्चित् प्रयतते इति भवतामपि अविद्यानिवृत्तिरेव कृतिसाध्या, ततश्च तदेव प्रयोजनं यथाह—"यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते, तत् प्रयोजनम्" (न्या. सू. १।१।२४) । "आनन्दं ब्रह्मणो

---

(१०)

मोक्ष का प्रकरण

१. वैशेषिक शास्त्र-प्रदर्शित द्रव्यादि सप्त पदार्थों को हेयोपादेय की कसौटी पर परख लेने के पश्चात् संसार में (दुःख पङ्क-प्रलिप्त सुख में भी) दुःख-बहुलता का दर्शन पा लेनेवाले, ब्रह्म-विद्या के द्वारा जीव-ब्रह्म के रहस्याभिज्ञ, वैशेषिकोक्त मार्ग पर अग्रसर हो भगवद्भक्ति-सम्पन्न, सिद्ध गुरु के शक्ति-पाती कटाक्ष-निक्षेप से विघ्नौघ-विजयी, परमेश्वर-साक्षात्कार की लालसा में अहर्निश निदिध्यासन-निमग्न, दीर्घकालीन आराधना से परिपक्व ज्ञान-समन्वित, उज्वल योगज धर्म-संवलित, कथंचित् महेश्वर-साक्षात्कार-लाभी, प्रवृद्ध तत्त्वावबोध से मिथ्या ज्ञान-विध्वंसी, निमित्ताभाव के कारण राग-द्वेष-प्रवृत्ति-निर्विण्ण, महापुरुष की निःशेष दुःख-प्रशमन-पूर्वक जो अपने स्वरूप में अवस्थिति होती है, उसे ही मनीषिगण मोक्ष कहा करते हैं ।

२. मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति सुख लाभार्थ होती है, वैशेषिकाभिमत मोक्ष में सुख का भी अभाव हो जाने के कारण मोक्ष के लिए किसी की प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस शङ्का के उत्तर में वैशेषिक का कहना है कि

रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते" इति सन्तोषजसुखाभिप्रायेण गौण्या वृत्या दुःखाभावाभिप्रायेण वा कथंचिद् गुणवाद इति, "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छां. उ. ८।१२।१) इति वचनात् । न च सांसारिकसुखाभिप्रायेण तत् सांसारिकसुखस्यापि ब्रह्मसुखानतिरिक्तत्वात् । स्वयम्प्रकाशत्वे च स्वस्य मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसङ्गात् ।

३. अत्र केचित्—दुःखपरिहारार्थं ज्ञानसुखयोः पूर्वं विषयविषयीभावो ऽनुपपन्नः पश्चादुत्पाद्यत इति ब्रूयुः । तदसाम्प्रतम्, तत्सद्भावे प्रमाणाभावात् । यस्य लोकेऽप्रसिद्धिः, तस्य प्रयोजकत्वमित्यपि दुर्घटमेव । नेह ज्ञानमस्ति, विषय-

---

मोक्ष में सुख-वादी के मतानुसार भी मोक्ष में प्रवृत्ति सुख के लिए नहीं हो सकती, क्योंकि वह नित्य सुख मानता है; जो कि कृति-साध्य नहीं। कृति-साध्य मानने पर सुख की नित्यता व्याहत हो जाती है। सिद्ध (प्राप्त) अर्थ के लिए कोई प्रवृत्त भी नहीं होता। अतः मोक्ष-सुख-वादी वेदान्ती के मत में भी अविद्या-निवृत्ति के लिए ही प्रवृत्ति माननी होगी। हम भी अविद्या-निवृत्ति को ही प्रवृत्ति का प्रयोजन मानते हैं [आचार्य उदयन ने भी कहा है—"तस्मात् नित्यं सुखमशक्यत्वान्न प्रयोजनम्। प्रयोजनं तु दुःखाभावः, तस्य निर्वर्त्यत्वादिति वस्तुगतिः" (परिशु. १।१।२२)। महर्षि अक्षपाद ने कहा है—"यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्" (न्या. सू. १।१।२४)। अर्थात् जिस वस्तु के उद्देश्य से प्रवृत्ति होती है, उसको प्रयोजन कहते हैं]। यह जो कहा जाता है कि "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते।" अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप सुखात्मक है, वह मोक्ष में व्यक्त होता है। वह सब सन्तोष-जन्य सुख के अभिप्राय से कहा गया है अथवा गौणी वृत्ति से दुःखाभाव के लिए प्रयुक्त सुख' शब्द गुणवादमात्र है, क्योंकि श्रुति स्पष्टरूप से उद्घोषित कर रही है कि मोक्ष में न प्रिय (सुख) रहता है और न अप्रिय (दुःख)। उक्त श्रुति सांसारिक सुख का निषेध करती है - ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वेदान्त में सांसारिक सुख को भी ब्रह्मरूप सुख से अभिन्न कहा गया है। आत्मा यदि सुखरूप स्वयंप्रकाश है, तब मुक्ति और संसार में कोई अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि उसका निरतिशय सुख स्वरूप स्वयंप्रकाश होने से सदैव अवभासित होता रहता है।

३. कुछ लोगों का कहना है कि दुःख का परिहार करने के लिए ज्ञान और सुख का पहले विषय-विषयिभाव उपपन्न नहीं होता, क्योंकि वह उत्पन्न ही पश्चात् होता है। आचार्य भासर्वज्ञ ने कहा है—"चक्षुर्घटयोः कुड्यादेरिव सुखसंवेदनयोः विषयविषयिभावसम्बन्ध-

विषयिभावो नास्तीति दृष्टपूर्वम्, ज्ञानस्य वाक्येनोत्पादकसामग्र्या एव वा तदुत्पादकत्वात् । प्रधानादिनिरासेनैव तदुक्तमोक्षस्यापि भङ्गो वेदितव्यः ।

विमतं कदाचिद्विशेषगुणरहितम्, विज्ञानासमवायिकारणाधारत्वाद् अनित्यविशेषगुणाधारत्वान्मनोवद् व्योमवच्च । न च जीवा नित्यज्ञानाः, आत्मत्वाद् ईश्वरवदिति साम्प्रतम्, ईश्वरस्वरूपस्यैवोपाधेः । पिण्डव्यभिचाराभावात् । न च नित्यविशेषगुणाधारा इति साध्यार्थः, अपार्थिवद्व्यणुकारम्भकत्वे सति विशेषगुण-

---

प्रत्यनीकस्य दुःखादेः संसारावस्थायां सद्भावात् तन्नाशे च मुक्तावस्थायां भवति सुखसंवेदनयोः सम्बन्धः" (न्या. सार. पृ.१६२) अर्थात् विद्यमान दो पदार्थों का तब तक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता, जब तक मध्य में कोई प्रतिबन्धक विद्यमान है। ऐसे ही नित्य सुख और ज्ञान के मध्य में दुःख-राशि की प्रतिबन्धकता के कारण उन दोनों का सम्बन्ध (विषय-विषयिभाव) नहीं बन पाता, मोक्ष अवस्था में दुःख की निवृत्ति हो जाने पर विषय-विषयिभाव सुस्थिर हो जाता है। वह कथन युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि नित्य सुख के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं। नित्य सुख जब लोक में प्रसिद्ध ही नहीं, तब वह मोक्ष में प्रवृत्ति का प्रयोजक है--यह कहना भी दुर्घट है। किसी का ज्ञान हो और विषय के साथ विषयविषयिभाव सम्बन्ध न हो-ऐसा कभी देखा नहीं जाता। ज्ञान की उत्पादक सामग्री ही विषयविषयिभाव की उत्पादक होती है। प्रधानादि-वाद का निरास हो जाने के कारण तत्तद्वादाभिमत मोक्ष का भी भङ्ग समझ लेना चाहिए।

[आत्मा के अशेष गुणों का उच्छेद सिद्ध किया जाता है, जिससे सुख का भी अभाव सिद्ध होगा-] विवदास्पद (जीवात्मा) कदाचित् विशेष गुणों से रहित होता है, क्योंकि अनित्य विशेष गुणवाला है, जैसे-आकाश [श्रीसर्वदेव सूरि ने भी ऐसा ही प्रयोग किया है-' आत्मा कदाचिदशेषविशेषगुणशून्यः, अनित्यविशेषगुणत्वात् पार्थिवपरमाणुवत् (प्र. मं. पृ १६)]। 'जीव नित्य ज्ञानवाला होता है, क्योंकि आत्मा है, जैसे ईश्वर—यह अनुमान उचित नहीं, क्योंकि ईश्वरत्व उपाधि है [ईश्वर में साध्य-व्यापक और जीव में साधन का अव्यापक होने से ईश्वरत्व धर्म उपाधि है]। 'जीवात्मा नित्य विशेष गुणवाला होता है'--इस अनुमान में भी अपार्थिव द्व्यणुकारम्भकत्व-युक्त विशेषगुणवत्त्व उपाधि है [जल, तेज और वायु के परमाणुओं के विशेषगुण नित्य होते हैं। उनमें अपार्थिव द्व्यणुकारम्भकत्व एवं विशेष-

तत्त्वोपाधेः । विशेषणाभावाद् भवतां पुनर्विशेषगुणरहितत्वात् । सुखत्वं नित्यसमवेतम्, तज्जातित्वादिति तु तद्गतनिकर्षत्वेन व्यभिचरतीत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

नमस्त्रिपथगाक्रान्तजटाजूटाय शम्भवे ।
नमस्ते जगदुत्पत्तिस्थितिध्वंसविधायिने ॥

इति श्रीवादिवागीश्वराचार्यविरचितः
मानमनोहरः समाप्तः

गुणवत्त्व भी है, अतः उक्त धर्म साध्य का व्यापक है, जीवात्मा में अपार्थिव द्व्यणुकारम्भकत्व न होने के कारण उक्त धर्म साधन का अव्यापक है]। 'सुखत्व' धर्म नित्य सुख में समवेत होता है, क्योंकि वह सुखगत जातिविशेष है—इस अनुमान का हेतु सुखगत 'निकृष्टत्व' धर्म में व्यभिचरित है।

अव्याप्यवृत्तयो यस्मिन् त्रिपथगाब्जपन्नगाः ।
तस्मै जगन्निमित्ताय विश्वनाथाय नो नमः ॥ १ ॥

शालीनमान्यभुवनेश्वरनामधन्यः,
छात्रोऽपमृत्युमगमत्तरुणस्तपस्वी ।
तस्मै सुवत्सतुलिताय समर्पितेयम्,
तन्नामनामविहिता भुवनेश्वरीति ॥ २ ॥

परिशिष्ट : १ :

मूलोद्धृतप्रमाणवाक्यानि

न हि द्रष्टुर्दृष्टेः	(बृ० उ० ३.४।३।२३)	पृ० ५
ईश्वरादिषु भक्तानां०	(त० सं० २८२)	पृ० ६
हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे०	(ऋ० सं० १०।१२१।१)	पृ० १६
सोऽग्नेर्देवयोन्या०	(ए० ब्रा० २।३।१४)	पृ० १८
परकीयेन च मनसा०	(व्यो० शि०) पृ० ५५९	पृ० २७
प्रकृष्टः प्रकाशः सविता०	(इण्टीम पृ० २५)	पृ० ३८
अशरीरं वाव सन्तम्०	(छां० उ० ८।१२।१)	पृ० ३९
अमृता देवाः०		पृ० ३९
द्वा सुपर्णा०	(मुण्ड० ३०३।१।१)	पृ० ४२
अजामेकाम्०	(श्वेता० ३०४।५)	पृ० ४२
नेह नानास्ति०	(बृह० उ० ४।४।१९)	पृ० ४२
मृत्योः स०	(कठ० ३.४।१०)	पृ० ४२
बहुजातिगुण०	(श्लो० वा० ५०४)	पृ० ४३
न लोकः०	(श्लो० वा० पृ० ५०४)	पृ० ४३
अप्रतीतावेवायं	(प्र० पं० पृ० ३२१)	पृ० ४९
अञ्जनपुञ्ज इव०	(प्र० भा० पृ० ८८)	पृ० ५०
आत्मा ज्ञातव्यः०		पृ० ८०
शुचीनां श्रीमतां०	(गी० ६।११)	पृ० ८०
वेदस्याध्ययनं०	(श्लो० वा० पृ० ३६६)	पृ० ९३
यो ब्राह्मणाय०	(तै० सं० २।६।१।२)	पृ० १०८
यद्वानुवृत्ति०	(मी० श्लो० वा० अभाव० ९)	पृ० १११
कारणस्य हि०		पृ० ११५
व्रीहीन् प्रोक्षति०		पृ० १३५
भूतभाव्युपयोगं०		पृ० १३६
श्येनचितं चिन्वीत०	(तै० सं० ५।४।११)	पृ० १३८
परस्परविरोधे हि०	(न्या. कु० ३।८)	पृ० १४१
यमर्थमधिकृत्य	(न्या०सू० १।१।२४)	पृ० १४२
आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्		पृ० १४२

परिशिष्ट : २ :

मानमनोहरे उद्धृता ग्रन्था एवं ग्रन्थकाराः

पूर्वाचार्याः (प्रशस्तपादादयः)	२,१७
अन्ये	२२
भूषणः	२६
व्योमशिवः	२७
अन्ये (प्राभाकराः)	३१
एकदण्डी	३७
वार्तिककाराः (कुमारिलभट्टाः)	४३
मकरन्दः (न्यायमकरन्दः)	४४
काशिकाकृत्	४६
श्रीवल्लभः	४७
शालिकनाथः	४९
एकदेशी (कन्दलीकारः)	५०
एके	६१
प्रभाकरः	७३
केचित्	७५,१४३
भासर्वज्ञः	७८
प्रशस्तपादः	८९
नवीनाः	९१
भारतम्	९४
[1]न्यायलक्ष्मीविलासः	४७,१०१
अपरे	१२८

१. वादिवागीश्वराचार्यस्यैवायमपरः कश्चन्निबन्धो यतो मानमनोहरे ४७ तमे पृष्ठे स्पष्टमुद्घोषितम्—अस्मन्न्यायलक्ष्मीविलासे ।

परिशिष्ट : ३ :

संकेत-स्फोरिका

आप०श्रौ०सू०	आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्		
क०उ०	कठोपनिषत्	आनन्दाश्रम, पूना	१९१४ ई०
क०सू०	कणादसूत्रम्	चौखम्बा सं०सी०वाराणसी	१९२३ ई०
किरणा०	किरणावली	एशियाटिक सोसायटी	१९५६ ई०
गी०	भगवद्गीता	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं. २००८
चित्सु०	तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी)	उदासीन सं.म. विद्यालय वाराणसी	१९५६ ई०
छा०उ०	छान्दोग्योपनिषत्	आनन्दाश्रम, पूना	१९१३ ई०
त०सं०	तत्त्वसंग्रहः	बौद्धभारती, वाराणसी	१९६८ ई०
तै०सं०	तैत्तिरीयसंहिता	निर्णयसागर, बम्बई	श. १८३२
तं०वा०	तन्त्रवार्तिकम्	आनन्दाश्रम, पूना	१९२९ ई०
न्या० कु०	न्यायकुसुमाञ्जलिः	चौ०सं०सी० वाराणसी	१९५७ ई०
न्या०मं०	न्यायमञ्जरी	मेडिकलहाल प्रेस, वाराणसी	१८९५ ई०
न्या०ली०	न्यायलीलावती	चौ०सं०सी० वाराणसी	१९९१ ई०
न्या०सार	न्यायसारः	षड्दर्शन प्रकाशन, वाराणसी	१९६८ ई०
न्या०सू०	न्यायसूत्रम्	चौ०सं०सी० वाराणसी	१९४२ ई०
परिशु०	न्यायपरिशुद्धिः	चौ०सं०सी०,वाराणसी	१९१८ ई०
प्र०क०मा०	प्रमेयकमलमार्त्तण्डः	निर्णयसागर, बम्बई	१९४१ ई०
प्र०पं०	प्रकरणपञ्चिका	बनारस हि०वि०वि०वाराणसी	१९६१ ई०
प्र०भा०	प्रशस्तपादभाष्यम्	चौ०सं०सी० वाराणसी	१९२[illegible] ई०
प्र०मं०	प्रमाणमञ्जरी	निर्णयसागर, बम्बई	१९३७ ई०
बृ०उ०	बृहदारण्यकोपनिषत्	आनन्दाश्रम, पूना	१९१४ ई०
मा०शा०	माध्यमिकशास्त्रम्	मिथिला विद्यापीठ	१९६० ई०
मु०उ०	मुण्डकोपनिषत्	आनन्दाश्रम, पूना	१९१८ ई०
र०की०नि०	रत्नकीर्तिनिबन्धावलिः	पटना	१९६१ ई०
व्यो०शि०	व्योमवती	चौ०सं०सी० वाराणसी	१९९७ ई०
शा०दी०	शास्त्रदीपिका	निर्णयसागर, बम्बई	१९१५ ई०
शा०भा०	शाबरभाष्यम्	आनन्दाश्रम, पूना	१९२९ ई०
श्लो०वा० / मी०श्लो०वा०	मीमांसाश्लोकवार्तिकम्	चौ०सं०सी०, वाराणसी	१९९८ ई०
श्वेता०उ०	श्वेताश्वतरोपनिषत्	आनन्दाश्रम, पूना	१९३८ ई०
सां०त०कौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी	चौ०सं०सी० वाराणसी	१९३२ ई०

मानमनोहरशब्दसूची

अ

अग्निः १८
अग्निषोमीय ८२
अग्नि संयोग ४५
अघट १३२
अङ्कुर ३
अञ्जनपुञ्ज ५१
अणु ४१
अण्विन्द्रिय ४८
अतिप्रसङ्ग २६,७९
अतीतानागत १३८
अत्यन्ताभाव १३३
अद्विष्ठ ६२
अद्विष्ठगुण ७१
अद्वैतश्रुति ३३
अधर्मत्व १०९
अनवस्था ७२
अनाप्तवाक्य ९२
अनाश्रित ५५
अनित्य ६५
अनित्य ८७
अनिर्वचनीय ३७
अनुपलब्धि १००
अनुमिति ८६
अनुषङ्ग
अनुष्णवृत्ति ११९
अनैकान्तिक १६,८८,११०
अन्तःकरण २५,२६,९०
अन्त्यकर्म ६६
अन्त्यतन्तुसंयोग १२
अन्त्यसुखज्ञान ६२
अन्यथाख्याति १०८
अन्यथानुपपत्ति ६३
अन्यथोपपत्ति १२३
अन्याश्रय ११५
अन्वयव्यतिरेक ८६
अन्वयोपाधि ८२
अपह्नव ११६
अपरजातीयत्व ११२
अपरत्व १७
अपरोक्ष ८९,९०
अपाकज १९
अपार्थिव १४४
अपीतवृत्ति १२०
अपूर्व १०७
अब्राह्मण १२४
अभाव २९
अभाव १२९
अभिप्राय २३
अभिप्रेत्य १२५
अभियुक्त ९६
अभूतत्व ४७
अभ्युपगत १३२
अभ्युपगमसिद्धान्तभङ्ग ७७
अमूर्तत्व ६४
अमृत १
अमृता ३९
अयोनिज १६
अरूपि ४८
अर्थविसंवाद ८९
अर्थापत्ति ९७
अवगूरण १०९
अवान्तर जातीय ६३,१०३

अविद्यानिवृत्ति १४२
अविनाभाव ८७
अविनाभावनिरपेक्ष ९०
अविभु ४६
अशरीर १४३
अशीतस्पर्शावृत्ति १२२
असमवायिकारण ६२,१२२
असार्थकत्व १३९
अहिंसा ८२

आ

आकाश २९,१११
आकांक्षा ९८
आत्मा २३,३२,४१,४४,४५,६८
आत्मावृत्ति ११९
आत्माश्रयत्व १२६
आनन्द ३९,१४२
आनन्त्यम् ४१
आर्षसद्भाव ८२
आशुतर ५२
आश्रयकृत १२९
आश्रयनियम १३८
आश्रयविनाश ६८
आश्रयाभाव १३८
आश्रयासिद्धि ६,६४

इ

इन्द्रिय ६,१८,५२,६१,७७ १०९.१११,११३,११९,
इन्द्रियत्व १२०
इन्द्रियव्यापाराभाव ९०
इन्द्रियात्मगुण १०८
ईश्वर ५,६,७,६७
ईश्वरनिष्ठ ५
ईश्वरस्वरूप १४४

उ

उच्छेद २३,६३
उत्क्षेपण १२४
उत्पत्तिपर्यालोचना १३९
उत्पादव्यवहार १३३
उदक ४,१७,१०४
उदकारम्भ १२
उदकावृत्ति ११८
उद्घाटितमात्र ११८
उपनय ८४
उपमान ६५
उपगतसिद्धान्तभङ्ग ७७
उपादान १०
उपाधि ३,४,५,६,१३,१७,१८ २१,२४,३०,४४-४५,४६ ५४,५६,५७,६१,६३,६४ ६५,६७,७८,७९,९५,१०४ १०५,११७
उपाधिशङ्का ६४
उभयविकल ८९
उष्ण १८
ऊर्ध्व १८

ए

एकेनैकसमवायी १२७

ओ, औ

ओदनपद ६८, ६९
औपाधिकनिराकरण १२४
औपाधिकशब्द १३९
औपाधिकसंबन्ध १४१

क

करतलामलक ४
कर्णशष्कुली २५
कर्म २
कर्मकारण १०२

कर्मजनकत्व ६६
कर्मत्वासिद्धिः १२४,१२५
कर्मवैकल्य ३२
कर्मसंयोगजनकत्व ६४
कर्मसिद्धिः ११३
कर्महेतु ७०
कर्मावृत्ति ११९
कर्मसमवायिकारणक ६७
कर्मैकार्थसमवेत ६७
कल्पकः ११५
कल्पनालाघव ७३
कामनाविषयत्वम् १०७
कामाधिकार १०८
कारण ११५
कारणजन्य १ ३
कारणनियोग १३१
कारणपूर्वक १३९
कार्य ८६
कार्यकृत १२९
कार्यलक्षण १३५
कुलस्य १
कृतिसाध्य १४२
कृष्णसर्प ४९
केवलनिमित्तकारण १२१,१२४
केवलज्ञान १३२
केवलसंयोगारम्भक ६५
क्रियाजन्यफलभागित्व १३५
क्षणिक १२
क्षेपायोग ११

ग

गतिभ्रान्ति ११४
गन्ध १० १७
गन्धवत् १६
गन्धवान् १५
गन्धावृत्ति १२०,१२५
गभीर १
गवय ९६
गुणवाद १४३
गुणाश्रय ६२
गुरुत्व १७,१८,५४,१२३
गृह्यमाणत्व १०९
गौण्या १४३
गौर्वाहीक ४३

घ

घराभवसिद्धि १४०
घ्राण १७

च

चक्षु १९,२२,३४,४९,७७
चाक्षुषजाति ११९

ज

जल्पवाद ८८
जलाणु ५५
जाति ११६
जातिग्राहक १२४
जातिनियम १३९
जातिमती १२२
जातिमान् १२१,१२५
जिज्ञासा ९९
जीव १४४
जीवनवाक्य ९८

ज्ञ

ज्ञातता १३७
ज्ञातत्व १३७
ज्ञान ५,६,८,२८,७४
ज्ञानत्व ७२
ज्ञानजन्य १७२
ज्ञानपूर्वक ३१

ज्ञानप्रागभाव ६१
ज्ञानाभ्युपगम ७२
ज्ञानार्थं १३८
ज्ञानाश्रय ३३
ज्ञायमान १०१

त

तमस् ४६,५१,५२
तर्क ११
तिक्तत्व १२१
तिरोधान ५२
तिरोहित ५२
तेजस् १२
तैजस १९
त्रिनयन १६
त्रैकालिक ६६
त्र्यणुक १४

द

दुःखानुषङ्ग १४२
दुःखाभाव १०१.१११
दुःखाभिप्राय १४३
दृष्टान्ताभास ८६
दृष्टान्तासिद्धि ९
दृष्टादृष्टव्यवस्था १०१
देव ३९
देवयोनि १८
द्रवत्व १७,२९,१०३,१२३
द्रव्य ६३,६७ ११७
द्रव्यग्राहक ११३
द्रव्यारम्भक १२.६८,७०
द्विष्ठगुणान् ६२
द्व्यणुक ५ १७,५९,६ ,१०५
द्व्यणुकारम्भकत्व १५४

ध

धर्मविशेषमात्रजन्यत्व ९०

न

नष्टघट ६४
नभस् ४५
नय ७४
नाद १११
नाना ४१,४२
नाश ६४
निगमन ८५
नित्य ४४,४५.८०
नित्यकाम्य ५९
नित्यज्ञान १४४
नित्यविशेषगुण १४४
नित्यद्रव्य ८०,६७,४७
निमित्तम् ६०,९६
नित्यसम्बन्ध १३०
नियम ३१
नियामक ३३
निरुपाधिक१५,५७,५८,८१,८६,१०३
निर्निबन्धन ५९
निर्मूल ७२
निर्विकल्प ७,८
निष्कारण ६७
नीरूप ३१
न्यायलक्ष्मीविलास ४७,१०१

प

पक्षवचन ८४
पक्षादिव्यवस्था ११७
पंचपिण्ड ८३
पतन ११३, १३२
पदार्थान्तर १३८, १४१
परत्व १७
परम्परा १७, १६
परमाणु ३, ५, १४, १, १७,
१९,३२,५४,५९
६०,६९,१०४,१०६

परमाणुजन्य ७०
परमेश्वर १४२
परसाधन ८८
पराकृत ४
परिमाण १७,५४,६१,६३
परिमाणवृत्तिः १२२
परोक्षानुभव ८७
पाकज ५६
पार्थिव १५,१७,५४,५६.१०४
पिण्ड ४,११
पिप्पल ४१
पीत १२०
पीतत्व १२१
पीतत्वाभाव १००
पीतारब्धत्व ५५
पीनत्व ९८
पृथक् १७
पृथक्त्व ६७
पृथक्त्वावृत्तिः १२३
पृथिवो ४,१२,१७,३८,५७,१०४,११८
पृथिव्यारम्भका १२
प्रकृति ६
प्रकारान्तरस्थिति १४१
प्रकाशकत्वम् १६
प्रकृतिजन्य १३९
प्रकृष्ट १४२
प्रचयजन्य ६१
प्रतिज्ञा २,१०,८४
प्रतिपत्ति १२९
प्रतिबन्धकाभाव १३२,१३३
प्रतिभा ८९
प्रतिमासिक ५१
प्रतिबद्धद्रवत्व १०५
प्रतिबन्धत्वक ८८
प्रतियोगिसापेक्षत्व १२९
प्रतियोगी २२
प्रतिवादिना ८५
प्रत्यक्ष ११३
प्रत्यक्षत्व १२०
प्रत्यक्षत्वानभ्युपग ७२
प्रत्यक्षबल ११६
प्रत्यक्षबाध ९
प्रत्यक्षसामग्री ८१
तत्ययविषयाभाव १३०
प्रत्ययवेद्यमान १३२
प्रदीप ११४
प्रधानादि १४४
प्रध्वंस ६४
प्रमा ६,७,९,२८,९१
प्रमाण ७२,८१,८५
प्रमाणत्वप्रसङ्ग १३८
प्रमाणबाध ७६
प्रमेयत्व ७२
प्रयोजकत्वम् १४३
प्रागभाव ६४
प्राण २९

ब

बद्ध १
बाध ५
बाधक ३३
बुद्धिग्राह्य १११
बुद्धि ७२
ब्रह्मसुख १४३
ब्राह्मण ३७,१०८
ब्राह्मणजन्यशरीर १२४

भ

भगवद्भक्ति १४२
भावना १०६
भावना सिद्धिः १०६

भूतल १३२
भेदसिद्धि ११३
भ्रातृभगिनी ९५
भ्रान्तिज्ञान ५०

म

मकरन्द ४४
मधुर १२१
मधुरत्व ६३
मधुररसावृत्ति ६३
मनस् १८,२६,४६,८८
मनीषि १४२
मनोवत् २३
महापृथिवीत्व १५
महाभूत १
मानसप्रत्यक्ष ७३,७४
मिथ्याज्ञान १४२
मुक्ति ४०
मूर्त ३

य

याग १०७
योगिप्रत्यक्ष १३,९०
योगज ८०
योग्यानुपलब्धि १४०
योग्यतावत्व ७८
योग्यताविरह ९८
योग्यता सम्बन्ध ११०

र

रजतज्ञान ७५
रजतार्थी ७५,७६
रजतविषय ७५
रस १७,१९
रसज्ञानमात्र १३०
रसव्यतिरिक्त १३
रसावृत्ति १२२
रूप १७,१९
रूपजनक ५५
रूपज्ञानप्रसङ्गः १३७
रूपावृत्ति १२१

ल

लालावत् १८
लिङ्ग १७
लोकातिक्रान्त १३१
लोपप्रसङ्ग १००

व

वस्तुसंकरप्रसङ्ग १९
वह्निमान् ८१
वाक्यानुमान १००
वाधक १००
वाधकाभाव ८९
वाधितविषत्व ९०
वायवीयाः १९,२०
वायु २१
वाय्ववृत्ति ११६
वारि २०
वासना ६
वाह्यप्रत्यक्ष १३
वाह्येन्द्रिय २०
विकल्प ६
विजातीयज्ञानोत्पत्तिः १३७
विज्ञानात्मक ३३
विज्ञानासमवायिकारण ७१
वितण्डा ८८
विपरीतव्याप्तिकथन ८९
विपक्षवृत्तिता ८८
विपर्ययः ३९,७८
विप्रतिपत्तिः १२६
विप्रतिपन्न १७,५८,६६

विभाग १७
विभागनाश ६४
विभागारम्भक ६८
विभु ८८
विरुद्ध ८७
विमतिपद ११३
विरोधानुवृत्ति १२९
विरोधाभाव ३३
विवादपद ७३
विवादाध्यासित ३,५२,७१,११८,१२९
विश्वासत्वप्रसङ्ग ११
विषयनियम १३७
विषयविषयीभाव १४३,१४४
विषयवैलक्षण्याभाव १३८
विषयसंकोच ९७
वृत्यन्तराभाव ९७
वेग १०५
वेदजन्य ९३
वैजात्य १०२,१३८
व्यक्तिसादृश्य १३९
व्यञ्जकत्व ६१,७०
व्यतिरिक्तकारण १२०,१२२
व्यतिरेक २२
व्यभिचार १४,३०,६१,७६,६२,
९५,१११,१२४,१३९
व्याप्तिदर्शनकाल ३
व्याप्तिविघटकत्व ११७
व्याप्त्यनिश्चय ४
व्याप्त्यभाव ६७
व्याप्त्यसिद्धि ९
व्यावर्तन ११०
व्यावृत्त ८९
व्यावृत्ति ११५
व्योम्नि १०१
व्याप्तिधर्मंव ८५.
व्याप्त्यसिद्धि ११३
व्याहत १२९
व्रीहीन् १३५

श

शक्ति १,१३५
शङ्कितोपाधि ८३
शब्द १०९
शब्दोपलब्धि २२
शरीर ३,१६,१७,१९,२८
शरीरसन्तान १२४
शीत १७
शुक्लतन्तु ५५
शुक्लपट १०१
श्येनचित १३८
श्येनत्वैकार्थसमवेत १३९
श्रुतार्थापत्ति ९८

स

सकेतग्रह १३९
संख्या २७,५४
संख्यावृत्ति १२२
सत्ता १३७
सत्प्रतिपक्ष ११०
सदृशी ९५
सन्तोषज १४३
सपक्षव्यापकत्व ६४, १०४
सप्तलक्षण १४१
सम ९०
समवाय १३
समवेत १७, ६२, १२६, १४५,१२५
समवेतसंस्कार १३५
समाधि १४,९०
सम्प्रतिपन्न १२८
सम्यगनुभव ९०

सयुजा ४१
सविता ३८
सर्वगत २३
सर्वज्ञ ६
सर्वमुक्ति ६५
सर्वमुक्तिपक्ष ७३
सहकारिसद्भाव ११
सहस्राक्ष १६
सादृश्य ५०,१३८
सादृश्यव्यवहार १३८
सादृश्योपलक्षण ६६
साधकतम ८७
साधकाभाव १३६
साधन २०,९२
साधनजिज्ञासा ८८
साधनविकल ८९
साध्यपरित्याग ८६
साध्यमान १२५
साध्यविकल ८९,१२८
साध्यविपरीत ८७
साध्यसाधन १०७
साध्याव्यापकत्व १०४
सामग्री २०
सामान्यसिद्धि ११५
सामान्याभाव १२३
सिद्धसाधन १०
सिद्धाश्रय ८
सुख १४५
सुपर्ण ४१
सुप्तप्रवुद्ध ९४
सुरभिगन्धावृति १२१
सेवन १
सोपाधिक १५,८८
संयोग १७,२६,५०,६१,६५,
६६,६८,११३
संयोगप्रागभाव ६९
संयोगविभाग ६९,११३
संयोगसंसर्गभाव ६९
संयोगावृत्ति १२१,१२३
संवादित्व ९०
संसर्ग ९९
संसृष्टि १३३
संस्कार १७,४८,५४,६६,९०
१०६,१२३
संस्कारवान् २२
संस्कार्यत्व १३६
सांसारिकसुख १४३
स्पर्श १२, १७, १८
स्पर्शवत् १०
स्पर्शवत्त्व ११७
स्पर्शवान् २२
स्मृतिमात्र ७६
स्वतन्त्रपुरुष ६४
स्वप्रकाश ६
स्वयंप्रकाशत्व १४३
स्वरूप १२९, १४२
स्वरूपासिद्धि ६, ९
स्वसंयोग १११
स्वाश्रयव्यावर्त्तक १०४
स्वैर ९९

ह

हिरण्यगर्भ १६
हिरण्यशरीर १८
हेतुत्व १२
हेतुवचन ८४
हेतु ८५,८७
हेत्वसिद्धि ५३
हेयोपादेय १४२

—*—

परिशिष्ट : ५ :

संशोधनिका

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
४	३१	मानमहोहकार	मानमनोहरका
११	१०	सिद्धि	सिद्ध
३	१७	३६	३३६
१६	२६	आरम्भ	आरम्भक
२५	७	पृथक्वत्व	पथक्त्व
२५	३२	वाधिर्य्यम्	वाधिर्य्यम्
२७	६	गत्वात्	गतत्वात्,
२६	२०	अन्त	अन्तः
२६	१६	ज्ञान	ज्ञाना
३०	१४	निश्चत	निश्चित
३२	६	अवस्थायम्	अवस्थायाम्
३७	५	वावक्यत्वात्	वाक्यत्वात्,
४५	२७	पार्थित्व	पार्थिवत्व
४६	३	मूतत्व	मूर्तत्व
४६	४	स्वश	स्पर्श
४७	७	कथ	कथं
४७	२२	नारम्भ	नारम्भक
४७	२३	समावि	समवायि
४९	२५	अक्षेप	आक्षेप
५१	४	संसार्गा	संसर्गा
५२	४	लाक	लोक
५२	१०	लोक	लोका
५३	१	पक्ष	पेक्ष
५५	१३	नत्य	नित्य
५५	२५	सिक	सक
५६	२	पद	पदं
५६	१२	आरव्य	आरब्ध
५६	१५	अन्यथ	अन्यथा
५६	२१	तमा	तम
५७	३	ग्राहश्रो	ग्राह्यो
५८	५	विवारा	विवाद

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
५८	६	स्पटी	स्पष्टी
५८	२६	उक्त	उक्त
६३	१	समान्या	सामान्या
६३	२	पतेः	पत्तेः
६३	२४	अन्यथ-अनुपपत्तिः	अन्यथानुपपत्ति
६४	५	तन्नितमित्वे	तन्निमित्तत्वे
६४	१८	संयुक्त	संयुक्तौ
६५	२४	असमावायि	असमवायि
६७	२१	असमवायिकरण	असमवायिकारण
६८	२	विभागा	विभाग
७०	५	कार्यं द्रव्यं	कार्यंद्रव्यं
७१	१४	परमाण	परिमाण
७२	११	तह	यह
७३	३	घट	घटं
७३	३३	प्रतीरेव	प्रतीतिरेव
७४	१६	अंन्योभाव	अन्योन्याभाव
७५	१८	मेवाभासते	मेवावभासते
७६	१५	रजतोल्लखि	रजतोल्लेखि
७६	२७	आश्रपा	आश्रया
७६	३०	रजार्थी	रजतार्थी
७७	११	कर्यंरत	कार्यंरत
७८	२५	अनध्नयवसाय	अनध्यवसाय
७८	२६	विपर्पय	विपर्यय
७९	११	संशयादनथान्तरता	संशयादनर्थान्तरता
७९	५	सामग्रय्रद्भात्र	सामग्रचसद्भाव
७९	२६	।कि वह, क्य	क्योंकि, वह
८०	६	के	०
८१	२५	अनुमति	अनुमिति
८२	६	प्रयत्नपूवक	प्रयत्नपूर्वक
८३	२	शङ्कितपाधि	शङ्कितोपाधि
८६	३०	पावदङ्ग	यावदङ्ग
८७	८	असाधकत्वज्ञापकत्व	असाधकत्वज्ञापकत्वं
८९	२२	निवार्यं	अनिवार्यं
९०	८	अन्तःकारणस्य	अन्तःकरणस्य

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
९१	१	यर्थार्थं	यथार्थं
९२	२	तत्वात्	तत्त्वात्
९२	६	प्रामाण्ये	प्रामाण्यं
९२	२६	(आत)	(आप्त)
९३	८	अधुनाऽध्ययन	अधुनाऽध्ययनं
९४	१८	साधना	साधनता
९५	४	उपमान	उपमानं
९५	१४	अनुमन	अनुमान
९५	२२	पदार्थं	पदार्थं
९६	२६	समज्ञा	समज्ञ
९७	१	विशेषणासिद्धः	विशेषणासिद्धिः
९७	७	सावकाशानवकाशया:	सावकाशानवकाशयो:
१०२	८	शमज्ञ	समज्ञ
१०५	२४	नहीं सकते	नहीं कह सकते
१०५	२६	अद्विष्ठ	अद्विष्ठ
१०७	३	समर्थांवातर	समर्थावान्तर
१०९	६	प्रत्यक्षत निबन्धनत्वाद्	प्रत्यक्षतानिबन्धनत्वाद्
११०	११	भिन्ना भिन्तवमेव	भिन्नाभिन्नत्वमे
११०	३४	मानमनोरकार	मानमनोहरकार
१११	२	गृह्यमाणाजाते	गृह्यमाणजाते:
१११	१४	इन्द्रिम	इन्द्रिय
१११	१५	ध्वन्यशे	ध्वन्यंशे
११२	१	गुण	गुण:
११२	१०	के	को
११३	२	संयोगाविभागव	संयोगविभागाव
११३	५	व्याप्त्यसाद्ध	व्याप्त्यसिद्धिः
११४	१६	हो	ही
११५	४	ताद्बधितमित्यमपि	तद्बाधितमित्यपि
११६	२४	न्याय शेपिक	न्यायवैशेषिक
११७	१०	मितरेताराश्रयत्वम्	मितरेतराश्रयत्वम्
११७	१९	समवायिकरण	समवायिकारण
११७	२०	समवायिकरण	समवायिकारण
११९	१६	वाय्यवृत्तित्व	वाय्ववृत्तित्व
१२०	१८	असमवायिकाणभूत	असमवायिकारणभूत

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२२	१२	संख्याव्यतिरिक्तत्वत्	संख्याव्यतिरिक्तत्वात्
१२२	१४	पृथक्त्व	पृथक्त्वं
१२३	२	चैकपृथक्त्वावादि	चैकपृथक्त्ववादि
१२३	१६	उपपादान	उपपादन
१२३	२९	से	दो
१२४	१	ब्राह्मणत्वम् प्रत्यक्षत्वस्य	ब्राह्मणत्वस्य प्रत्यक्षत्वम्
१२५	१	चैकानेकतातीतिज्यामानांतनिर्णयथा (?)	
१२६	६	माता	मता
१२६	६	व्यक्तिारेव	व्यक्तिरेव
१२६	२१	सुज्यते	युज्यते
१२६	१९	विरत्स्यते	विरोत्स्यते
१२७	२	द्रव्यवाद	द्रव्यत्वात्
१२८	३	भाट्ट	भाट्टैं
१२८	१०	तद्विरोधीं	तद्विरोधी
१२९	२६	इतरेराभाव	इतरेतराभाव
१३१	१	प्रथम पंक्ति के स्थान पर द्वितीय पंक्ति और द्वितीय के स्थान पर प्रथम पंक्ति हो गई है।	
१३२	११	प्रभावकरण	प्रभाकर
१३२	२८	तव	तक
१३३	३	करपरामर्शगान्धकारे	करपरामर्शेणान्धकारे
१३३	३०	प्रतिवन्ध प्रतियोगकि	प्रतिबन्धकप्रतियोगिक
१३५	४	नुपपत्तिरिपि	नुपपत्तिरिति
१३८	६	सान्नध्यादयोऽपि	सान्निध्यादयोऽपि
१३८	६	।सम्बन्धत्वेनप्युपपत्तेः	सम्बन्धत्वनाप्युपपत्तेः
१३९	२	सकेतग्रह	संकेतग्रह
१४१	१	दीः स्थ्यम्	दीःस्थ्यम्
१४१	३	सप्तलक्षाणानां	सप्तलक्षणानां
१४२	१	मोक्षप्रकरण	मोक्षप्रकरणम्
१४२	८	स्वेनरूपेठणावस्थानं	स्वेन रूपेणावस्थानं
१४२	२७	वैशेक्षिक	वैशेषिक

षड्दर्शन प्रकाशन
उदासीन संस्कृतविद्यालय
ढुण्ढिराज, वाराणसी